नई तालीम की कहानी

मार्जोरी साइक्स

अनुवाद : श्रीप्रकाश

क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र (RRCEE)
केंद्रीय शिक्षा संस्थान
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

नई तालीम की कहानी

मार्जोरी साइक्स

जो देखा–समझा

नई तालीम पर केंद्रित सेवाग्राम प्रयोग की यह कथा एक ऐसी महिला द्वारा लिखी गई है जो रक्त और जन्म के आधार पर अंग्रेज है और उस राष्ट्र की सदस्य है जिसके औपनिवेशिक शासन को सेवाग्राम से ही चुनौती दी जा रही थी। वह एक शिक्षक तो है परंतु उसी "पश्चिमी" शिक्षा तंत्र द्वारा शिक्षित है जिसे गांधीजी अंग्रेजी शासन को बनाए रखने के लिए आंशिक तौर पर जिम्मेदार मानते थे। एक ऐसी महिला जिसने भारत में अपने पहले 10 साल मद्रास के एक ऐसे निजी स्कूल में गुजारे जो सरकारी "सहायता" प्राप्त स्कूल होने के नाते कई अहम अर्थों में सरकारी तंत्र से बंधा हुआ था। फिर ऐसा कैसे हुआ कि यह अंग्रेज अध्यापिका सेवाग्राम प्रयोग से बिल्कुल शुरुआती दौर में ही आ जुड़ी?

मद्रास में 1937 की अगस्त का वह दिन भी स्कूल के सामान्य कामकाजी दिनों की तरह ही शुरू हुआ था। मुझे भी कक्षाएं लेनी थीं और कार्यालय के कामकाज निपटाने थे। जब डाक आयी तो सबके निजी पत्र बाद में पढ़ने के लिए अलग रख दिए गए। दोपहर के भोजन के बाद मैं अपने कमरे में गयी और उन्हें साथ लेती गयी। उनमें *हरिजन* की 31 जुलाई की मेरी प्रति भी थी। मैं उसके पन्नों को पलटने लगी। तभी मेरी नजर एक पैराग्राफ पर अटक गयी : भारत के बच्चों को गांधीजी जैसी शिक्षा देना चाहते थे उसके बारे में उन्होंने एक सार्वजनिक ब्यौरा प्रकाशित किया था। उन चंद पंक्तियों ने मेरे दिमाग से बाकी सारी बातों को बाहर कर दिया। मैंने उन पंक्तियों को बार–बार पढ़ा। मैं आज भी उन शब्दों को साफ–साफ याद कर सकती हूं जो उस पैराग्राफ को पढ़ने के बाद मेरे दिमाग में आए थे – "आखिरकार कोई तो है जो शिक्षा के बारे में कायदे की बात कह रहा है!" मैं उत्सुकता से अगले और फिर उससे अगले *हरिजन* की प्रतीक्षा करने लगी। मैं गांधीजी के प्रस्ताओं से पैदा हो रहे विवादों में भी दिलचस्पी लेने लगी। इसी दौरान मुझे पता चला कि अक्टूबर में कुछ चुने हुए शिक्षाशास्त्रियों को प्रारंभिक चर्चा के लिए बुलाया जा रहा है। तब तक मैं गाांधीजी से नहीं मिली थी। मैं युवा और संकोची थी और दक्षिण के बाहर भारत के बारे में कुछ भी नहीं जानती थी। इसलिए अपने उत्साह के बावजूद मुझे कभी लगा ही नहीं कि मैं भी उस बैठक में जा सकती हूं। अब मुझे समझ में आता है कि अगर मैं वहां जाती तो मेरा स्वागत ही होता पर अब मुझे कोई अफसोस नहीं है। मेरे लिए चीजें कुछ दूसरे तरह से घटित हुईं।

गाांधीजी के विचारों के प्रति मेरा उत्साह शूण्य से पैदा नहीं हुआ था। इसका संबंध मेरे बचपन के अनुभवों से था। जब मैं छोटी थी तो हम बच्चों से उममीद की जाती थी कि हम रोजमर्रा के घरेलू कामों में हाथ बंटाएं। हमें अपने सादगी भरे छोटे से घर की साफ–सफाई और भोजन बनाने में मदद करनी होती थी। मेरे पिता उत्तरी इंग्लैंड के एक निर्धन कोयला खनन इलाके के ग्रामीण स्कूल में प्रधानाध्यापक थे। उनका वेतन भी साधारण ही था। यह एक "साधारण" स्कूल था, लेकिन मेरे पिता कोई "साधारण" अध्यापक नहीं थे। वह जानते थे कि बच्चे कामों और चीजों को खुद करते–बनाते हुए ही सीखते हैं। उन बच्चों के कुछ करने एवं बनाने के लिए चीजें

जुटाते-तैयार करते हुए वह शाम को घंटों लगे रहते थे। इस काम में मैं, उनकी सबसे बड़ी बेटी, उनकी सहायता करती थी। उन्होंने स्कूल के बच्चों को गत्ते के ऐसे मॉडल बनाना सिखाया जो सचमुच काम करते थे। कैसे करके दिखाया कि कैसे रेलवे सिगनल बनाए जा सकते हैं जो ऊपर-नीचे हो सकें, कैसे पनचक्की तैयार करें। पनचक्की के लिए वे पानी की जगह महीन बालू का इस्तेमाल करते थे क्योंकि गत्ते की चक्की पर पानी नहीं डाला जा सकता था। इसी तरह उन्होंने गणित और विज्ञान के सबक पढ़ाए। साथ ही शारीरिक कौशल और सफाई से काम करने की सीख दी गई। भूगोल, इतिहास, काव्य और संगीत को भी बच्चों के अनुभवों के साथ जोड़ कर सिखाया गया। एक बार कनाडा में रह चुके एक सहायक अध्यापक पधारे जो सोख्ता कागज पर चिंगारी से आग लगाना जानते थे। पिता जी ने फौरन ही इस प्रयोग के लिए भी इंतजाम कर दिया और उसके बाद सारे बच्चों को भी खुद ये तरकीब आजमाने का मौका दिया।

जब 1928 में मैंने मद्रास में पढ़ाना शुरू किया तो मैंने अपने पिता से कहा कि वे कोई ऐसी गाइड-बुक भेज दे जिसमें रोजमर्रा की वस्तुओं का उपयोग करते हुए प्रायोगिक गतिविधियों के जरिए सामान्य विज्ञान पढ़ाने के बारे में बताया गया हो। उन्होंने जल्दी ही मुझे कुछ किताबें भेज दीं। इन पुस्तकों से मुझे आने वाले समय में मद्रास में बहुत सारे सबक तैयार करने में बड़ी सहूलियत मिली। (यह भारत के शैक्षणिक दायरे में स्थानीय संसाधनों के उपयोग का "फैशन" आने से 40-50 साल पहले की बात है)।

बाद में सेवाग्राम के मेरे विद्यार्थी जब-तब मुझसे पूछ ही बैठते थे कि मैंने नई तालीम का "प्रशिक्षण" कहां से लिया था। मेरा जवाब होता, "अपने घर में, अपने माता-पिता से।"

जब मैं स्कूल में पढ़ रही थी उन दिनों तक मुझे गांधीजी के बारे में कुछ भी पता नहीं था। 1920-21 में भी हमें भारत में चल रहे असहयोग आंदोलन की भी कोई जानकारी नहीं थी। हां, हमें आयरलैंड के स्वतंत्रता आंदोलन के बारे में खूब जानकारी थी और उस संघर्ष में हमारी सहानुभूति आयरिश जनता के साथ थी। "औपनिवेशिक" जनता द्वारा अपनी पहचान के लिए चलाए जा रहे संघर्षों में मेरी रुचि केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में और गहरी हुई जहां हमें भारतीय मित्रों से यहां के राष्ट्रीय आंदोलन और उसके नेताओं के बारे में पता चला। शिक्षा के क्षेत्र में सहायता के लिए भी उन दिनों अकसर अपीलें सुनायी पड़ती रहती थीं। उनके नौजवान नेता ऐसे स्कूल खोलना चाहते थे जो उनकी संस्कृति के मूल्यों की रक्षा कर सकें और पश्चिम के बढ़ते दबाव का मुकाबला करने में उनको मदद दें। वे चाहते थे कि ब्रिटिश अध्यापक समानता की दृष्टि से उनकी सहायता करें। मैं इन प्रस्तावों से काफी आकर्षित थी अध्यापक के तौर अपना प्रशिक्षण पूरा करने के तुरंत बाद मद्रास के एक स्कूल के संपर्क में आ गई जहां सहायता की जरूरत थी। 1928 के पतझड़ में मैं मद्रास पहुंची।

बेंटिंक गर्ल्स हाई स्कूल की शुरुआत लार्ड विलियम बेंटिंक के जमाने में बहुत छोटे पैमान से हुई थी। उसका नाम भी लार्ड बेंटिंक के नाम पर ही रखा गया था। 1937 में जब गांधी जी ने *हरिजन* में अपना ऐतिहासिक पैराग्राफ लिखा उस समय तक यह स्कूल अपने 100 साल पूरे कर चुका था। 1987 में जब नई तालीम की स्वर्ण जयंती मनायी जा रही थी उस समय यह स्कूल अपनी स्थापना के 150 वर्ष पूरे कर रहा थ। जैसा कि मैं बता चुकी हूं, अपने पाठ्यक्रम और परीक्षाओं के मामले में यह स्कूल "व्यवस्था" का ही अंग था लेकिन कई अहम मामलों में यहां काफी आजादी भी थी। मेरे दो वरिष्ठ सहकर्मी 1928 में साबरमती और शांति निकेतन में

रह चुके थे। वे गांधीजी व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर से बहुत प्रभावित थे। इस तरह के प्रयासों का एक परिणाम ये निकला कि बेंटिंक स्कूल के बच्चे-बच्चियों ने *जन गण मन* गाना सीख लिया था। वे इसके राष्ट्रीय गान बनने से बहुत पहले ही इसे प्रसन्नता से गाने लगे थे। वे इसके कई पदों को अच्छी तरह समझने लगे थे। भारत की महान धार्मिक परंपराओं के बीच साहचर्य वाला पद उन्हें खासा पसंद था।

टैगोर ने कहा था कि बच्चों की शिक्षा में उनकी मातृभाषा का केन्द्रीय स्थान होना चाहिए। उनके इस कथन ने हमारे विश्वास को और मजबूती दी। हमारा स्कूल द्विभाषिक स्कूल था। वहां तमिल और तेलुगू, दोनों भाषाओं में शिक्षा दी जाती थी। हम इस बात का खयाल रखते थे कि दोनों भाषाओं का उचित सम्मान मिले। कभी-कभी हम मद्रास में चलने वाली "राष्ट्रीय" गतिविधियों में नेतृत्वकारी भूमिका निभाने वाली विशिष्ट महिलाओं को बुलाते थे ताकि बच्चों को उन महिलाओं के काम के बारे में पता चले। उन महिलाओं में से कई अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों से पढ़ी थीं। उनको अपनी मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी में बोलना आसान लगता था। हमें उनको भी तमिल में बोलने के लिए समझाना पड़ता था। हम उनसे कहते, "हम चाहते हैं कि आपकी बात सभी बच्चे समझें। सारे बच्चे आपकी अंग्रेजी नहीं समझते। कृपया तमिल में बोलिए।" और वे हमारी बात मानती थीं।

हमें बाद में पता चला कि गांधी जी भी मातृभाषा के इस्तेमाल पर जोर दे रहे थे। उन दिनों तो हम मुख्यत: उनकी देदीप्यमान ईमानदारी एवं सादगी के बारे में ही जानते थे। हमारा स्कूल गरीब था, अधिकतर बच्चे साधारण परिवारों के थे। मद्रास की जलवायु हमेशा गर्म रहती थी इसलिए फर्नीचर कम थे और बच्चे चप्पल शायद ही कभी पहनते थे। अध्यापक और बच्चे, सभी नंगे पैर रहते थे और फर्श पर ही घास से बनी चटाइयों पर सोते थे। टिन की छोटी सी संदूकची में ही एक लड़की के सभी कपड़े और अन्य वस्तुएं आ जाती थीं। जब मैंने पहली बार सेवाग्राम की सादगी को देखा तो मुझे न आश्चर्य हुआ और न कुछ अनजाना सा लगा। यहां एक खास किस्म की अपनी शालीनता थी, अपना सौन्दर्य था। सेवाग्राम दक्षिण के ग्रामीण घरों और बच्चों की सादगी को अभिव्यक्त करता था।

अभी मुझे मद्रास में आए ज्यादा हफ्ते नहीं हुए थे कि तभी सौभाग्यवश मेरी मुलाकात राजाजी से हुई। उन्होंने गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम और उनकी प्रेरणा से चल रही राष्ट्र-निर्माण गतिविधियों के बारे में बताया। वे स्वयं इन गतिविधियों से गहरायी से जुड़े थे, खास तौर पर तिरुचेनगोड़ के अपने आश्रम से। इन बातों से प्रेरणा लेकर हम अध्यापक भी सोचने लगे कि स्कूल की लड़कियों को भावी भारत की योग्य नागरिक बनने में सहायता कर के अपने छोटे स्तर से ही राष्ट्र-निर्माण के लिए और क्या-क्या कर सकते हैं। बेंटिंक में कई बातें हमारे पक्ष में थीं। सबसे पहले तो ये कि हमारा स्कूल आजकल के हिसाब से "छोटा" था। किंडरगार्टन से लेकर स्कूल की फाइनल कक्षाओं तक कुल मिलाकर हमारे पास 350 बच्चे थे। हम ये सोचते थे और अब भी सोचते हैं कि यह सही संख्या थी; अध्यापक और बच्चे एक-दूसरे को जानते थे और एक-दूसरे का ध्यान रखते थे। हम इतने बड़े नहीं थे कि एक बड़े परिवार की तरह महसूस और व्यवहार करने की क्षमता ही खो दें। दूसरे, हमारा स्कूल क्रिश्चियन प्रबंधन की देख-रेख में चलता था परंतु किसी धर्म के साथ कोई भेदभाव नहीं था। सभी लड़कियों के लिए समान कायदे-कानून थे चाहे वह लड़की किसी भी धार्मिक पृष्ठभूमि या ऊंची या नीची जाति की हो। सबके साथ समान व्यवहार किया जाता था। स्कूल में ही रहने वाले बच्चे स्कूल के ही भोजनालय में

भोजन करते थे और उसको चलाने में वे मदद करते थे। स्थानीय बच्चे दोपहर का भोजन लेकर आते थे और छायादार पेड़ों के नीचे घेरे में बैठ कर भोजन करते थे। सब बच्चों की तरह वे भी कभी-कभी सफाई करना भूल जाते थे। एक दोपहर को स्टाफ रूम से हमने देखा कि एक सीनियर ब्राह्मण लड़की कुछ लापरवाह जूनियर लड़कियों द्वारा छोड़ दी गई जूठी पत्तलों को विनम्र भाव से चुपचाप साफ कर रही है। पत्तल छोड़ कर गई लड़कियों में से कुछ निम्न जाति की भी थीं। हमने सोचा कि कम से कम इस लड़की ने तो गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम की भावना को समझ लिया है।

बच्चों से उम्मीद की जाती थी कि वे अपनी कक्षाओं और स्कूल परिसर को साफ-सुथरा रखेंगे। इसके लिए कोई नौकर नहीं था। कुछ कक्षाएं साधारण फूंस से बनी होती थीं जिनमें काम करना बड़ आनंददायक था। उन कक्षाओं में पढ़ने वाली लड़कियों ने ही चारों तरफ फूलों की क्यारियां बना रखी थीं और वे उनकी देखभाल करती थीं। यह सब कुछ सहकारिता से ही संभव था। इस सहकारिता की भावना को हमने जानबूझकर खेल-कूद और अकादमिक कार्यक्रमों में भर दिया था। शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम में हमारा उद्देश्य कुछ "स्टार" खिलाड़ियों को तैयार करना नहीं था। हम हर बच्ची को प्रोत्साहित करते थे ताकि वह अपना वह सर्वोत्तम प्रदर्शन कर सके। यानी हमारा प्रयास रहता था कि जिन बच्चों में जन्मजात प्रतिभा है वे अन्य बच्चों की सहायता करें। कक्षाओं में भी ऐसा ही था। हम "सर्वश्रेष्ठ" प्रदर्शन करने वाले बच्चे को कोई अकादमिक पुरस्कार नहीं देते थे, बल्कि हम उन्हें अन्य बच्चों की सहायता, अपनी कड़ी मेहनत और दोस्ताना सहयोग से आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते थे, उन पर नजर रखते थे और "धीमी" प्रगति करने वाले बच्चों में भी सुधार आने पर उनकी प्रशंसा करते थे। अरे हां! लोगों ने हमसे कहा था कि पुरस्कारों की कृत्रिम प्रेरणा के बगैर "बच्चे काम नहीं कर सकते"। लेकिन ऐसा नहीं है।यदि कभी ऐसा लगता भी है तो केवल इसलिए कि जिस "काम" की हम बच्चों से उम्मीद रखते हैं उसमें उनकी कोई अंदरूनी रुचि नहीं होती है या फिर उनके लिए उसका कोई अर्थ ही नहीं होता है। कुछ मां-बाप ने हमारे रवैए का विरोध भी किया। उनका कहना था कि वे अपनी लड़कियों को "पढ़ने" के लिए भेजते हैं; फर्श साफ करने या क्यारियों में पानी देने के लिए नहीं। दूसरी ओर ये भी सच है कि एक "सहायता प्राप्त" स्कूल की सीमाओं के भीतर हम जो कुछ भी कर रहे थे उसकी वजह से ही कुछ मां-बाप अपनी लड़कियों को जानबूझकर हमारे पास भेजते थे। ऐसे अभिभावकों में कई शहर के राष्ट्रीय नेता भी शामिल थे।

लेकिन हम जो कर सकते थे उसकी भी एक सीमा थी और 1935 के आसपास से मैं इस बारे में ज्यादा असहज रहने लगी थी। एक बात ये थी कि गांधी जी इस बात से बहुत परेशान थे कि शिक्षा के लिए पैसा एक हद तक शराब की लाइसेंसशुदा दुकानों से आ रहा था। एक अन्य तथ्य जो मुझे परेशान करता था वह भारत की वास्तविक जरूरतों के संदर्भ में "व्यवस्था" के अप्रासंगिक होने के प्रति मेरी बढ़ती जागरुकता थी। मुझे लगने लगा कि कुछ ऐसा है जो गहरे तौर पर गलत है। एक लड़की नर्स बनना चाहती थी। एक कॅरियर के हिसाब से उसका व्यक्तित्व एवं कौशल, सब कुछ नर्स बनने के लिए अनुकूल था। परंतु उसे प्रशिक्षण कोर्स में प्रवेश देने से मात्र इसलिए मना कर दिया गया क्योंकि वह अंग्रेजी व्याकरण जैसे औपचारिक एवं अप्रासंगिक विषय में "पास" नहीं हो पायी थी। मुझे एक परेशानी "कम्युनल इलेक्टोरेट" के लिए 1935 में किए गए प्रावधान से थी। सांप्रदायिक मतदान के राजनीतिक नतीजों के मद्देनजर "धर्मांतरण" का मुद्दा राजनीतिक रूप से विस्फोटक हो गया

था। जैसा कि मैंने बताया, हमारा स्कूल एक क्रिश्चियन फाउंडेशन था। अब तक मैं सभी समुदायों की लड़कियों को बेहिचक बाइबिल पढ़ा लेती थी। बाइबिल में दिए गए सार्वजनिक न्याय एवं "सदाचार" के महान संदेशों को हम गांधी जी के विचारों और सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में पढ़ते-समझते थे। लेकिन 1935 के बाद प्रत्येक "साम्प्रदायिक" संगठन (चाहे वह कितना भी खुला या ईमानदार हो) प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से "धर्म परिवर्तन" के आरोपों में फंसने लगा। अब तक होने वाली खुली एवं सहज आपसी चर्चाओं पर संदेह की छाया मंडराने लगी। ऐसे सरकारी और अन्य दबावों को लेकर मैं काफी खिन्न थी। मैं हर पल ये चाहने लगी कि मुझे आजाद माहौल में काम करने की आजादी मिले। गांधी जी के सपनों और आशाओं के बारे में पढ़ने के बाद अगस्त के उस दिन से तो मेरी ये चाह और मजबूत हो गयी।

1938 में आगे का रास्ता खुलने लगा। अपने कुछ दोस्तों के माध्यम से मुझे रवीन्द्रनाथ टैगोर का गर्मजोशी भरा पत्र मिला जिसमें उन्होंने मुझसे आग्रह किया था कि मैं शांति निकेतन में काम करूं। मैंने यह आमंत्रण तुरंत स्वीकार कर लिया और 1938 के दिसम्बर में अपने भावी कामकाज को समझने-बूझने के इरादे से मैं शांति निकेतन के लिए निकल पड़ी। मैंने सीधा तटीय रास्ता नहीं चुना बल्कि पहले मैं वर्धा गयी। मैं अपनी आंखों से देखना चाहती था कि वहां तथा सेगांव स्थित नए ग्रामीण स्कूल और शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र में क्या कुछ चल रहा है। वहां पहली बार मैं गांधी जी से मिली और उनके स्कूल एवं उसके आदर्शों के बारे में सीधे उनसे समझने का मौका मुझे मिला। इस बार मैं उनके विचारों से और ज्यादा प्रभावित हुई। उस दिसम्बर में मैंने जो कुछ देखा-जाना, वह आगे की कहानी का एक हिस्सा है।

2

बीजारोपण

1937 में जब गांधी जी ने *हरिजन* में शिक्षा संबंधी लेख लिखे तब तक वह कम से कम 40 वर्ष तक शिक्षा के प्रश्न पर चिंतन-मनन कर चुके थे। 1896 से पहले वह दक्षिण अफ्रीका में 3 साल बिता चुके थे। उस दौरान उनकी पत्नी और दो छोटे बच्चे भारत में ही थे। जब ये साफ हो गया कि उनके काम में अभी कई और साल लग सकते हैं तो वह अपना परिवार लाने के उद्देश्य से भारत आए। 1897 की शुरुआत में वह तीन बच्चों के साथ वह डरबन लौटे। उनमें से दो उनके अपने बेटे थे और एक उनका भांजा था। उनके बेटों की उम्र 9 और 5 वर्ष थी जबकि उनकी बहन का बेटा 10 वर्ष का था। डरबन आते ही पहला सवाल उन बच्चों की शिक्षा का उठा।

तीन चीजों के बारे में गांधी जी की राय शुरू से ही एकदम साफ थी : एक, बच्चों को घर पर रहना चाहिए, उनको मां-बाप से अलग करके आवासीय विद्यालय में नहीं भेजा जाना चाहिए; दूसरा, उनको अपनी मातृभाषा में शिक्षा मिलनी चाहिए; और तीन, उनको ऐसी कोई विशेष सुविधाएं नहीं मिलनी चाहिए जो भारत के अन्य बच्चों को नहीं मिलती हों।

उनको घर में रहना चाहिए क्योंकि "जो शिक्षा एक सुव्यवस्थित घर में सहज ही बच्चों को मिल सकती है, वह हॉस्टल में बहुत मुश्किल है।" गांधी जी मानते थे कि घर के अंतरंग संबंध ही सारी नैतिक एवं सामाजिक शिक्षा की नींव हैं। इसे वह केन्द्रीय महत्व देते थे। उन्होंने लिखा, "मैंने हमेशा ही हृदय की संस्कृति और चरित्र निर्माण को पहले स्थान पर रखा है।" बाद में जब उन्होंने उन दिनों का पुनरावलोकन किया तो उन्हें लगा कि उनके बच्चे घर में बढ़ते हुए "सादगी और सेवा" का अर्थ सीख चुके थे क्योंकि यह घर ऐसा था जहां इन बातों की खोज हो रही थी और उनको अमल में लाया जा रहा था।

गांधी जी मातृभाषा के इस्तेमाल पर भी बहुत जोर देते थे। उन्होंने कहा था, "मेरी दृढ़ मान्यता रही है कि जो भारतीय मां-बाप अपने बच्चों को उनकी शैशवावस्था से ही अंग्रेजी में सोचना और बातचीत करना सिखाने लगते हैं, वे अपने बच्चों और अपने देश के साथ धोखा करते हैं। वे उन्हें राष्ट्र की आध्यात्मिक एवं सामाजिक विरासत से वंचित करते हैं और उन्हें देश की सेवा के लिए अयोग्य बना डालते हैं।" दक्षिण अफ्रीका में संचाार माध्यम के रूप में अंग्रेजी को मान्यता मिली हुई थी। वहां के स्कूलों में भारतीय भाषाएं पढ़ायी भी जाती थीं तो उनकी दशा बहुत खराब थी। इसीलिए गांधी जी अपने बच्चों से बात करते हुए हमेशा गुजराती के इस्तेमाल पर जोर देते थे और इस माध्यम में बच्चों को सामान्य शिक्षा देने के लिए समय निकालने की भरसक कोशिश करते थे। जब भी संभव होता बच्चे घर से ऑफिस तक उनके साथ जाते और पूरे रास्ते वह तरह-तरह के विषयों पर चर्चा करते। वकालत और सार्वजनिक कार्यों के कारण उन्हें बहुत कम समय मिल पाता था। लिहाजा, बच्चे एवं गांधी जी, दोनों ही अपनी शिक्षा में साहित्यिक तत्वों का अभाव महसूस करते। घर पर रहकर संपूर्ण शिक्षा के मार्ग में आने वाली इन्हीं व्यावहारिक दिक्कतों ने संभवत: गांधी जी को व्यवस्थित स्कूलों के लिए जोर देने पर बाध्य किया था।

इसका मतलब यह भी नहीं था कि कोई भी स्कूल चल जाएगा। डरबन के श्वेत समुदाय में गांधी जी का जो सम्मान था, उसके आधार पर वह अपने बच्चों को कुलीन वर्ग के किसी भी स्कूल में भेज सकते थे, जहां आम तौर पर भारतीय बच्चों को दाखिला नहीं मिलता था। परंतु इसे आत्म-सम्मान का प्रश्न बनाते हुए उन्होंने अपने बच्चों को ऐसे किसी स्कूल में भेजने से इनकार कर दिया। निस्संदेह, बच्चों को अच्छी साहित्यिक शिक्षा अंग्रजी में ही मिल सकती थी लेकिन तब यह शिक्षा अपने ही लोगों के साथ अनुचित भेदभाव की कीमत पर हासिल होती। गांधी जी ने लिखा, "मैंने उनको साहित्यिक शिक्षा की कीमत पर आजादी एवं आत्मसम्मान का जरूरी पाठ पढ़ाया। यदि आजादी और सीखने में से किसी एक को चुनना हो... तो आजादी को ही वरीयता देना उचित होगा।"

1904 तक हालात ऐसे ही चलते रहे। तब तक गांधी जी का मुख्य कार्य जोहानसबर्ग में केंद्रित हो चुका था हालांकि डरबन से भी उनका जीवंत संपर्क बना रहा। उन्होंने वहां के मित्रों को "इंडियन ओपीनियन" पत्र शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया जो जल्द ही उनका मुखपत्र बन गया। अखबार जल्दी ही कठिन वित्तीय संकटों में फंस गया और गांधीजी से आह्वान किया गया कि वे खुद डरबन जा कर हालात का जायजा लें। उनके घनिष्ठ मित्र हेनरी पोलाक उन्हें जोहानसबर्ग स्टेशन तक विदा करने आए और 24 घंटे की यात्रा के दौरान पढ़ने के लिए उन्हें ए

क किताब दी। वह किताब रस्किन की *अनटू दिस लास्ट* थी। इस किताब का गांधी जी पर गहरा असर पड़ा और फलस्वरूप, उन्होंने डरबन से 14 किलोमीटर दूर लगभग 100 एकड़ जमीन लेकर फीनिक्स आश्रम की स्थापना की और इंडियन ओपिनियन प्रेस को यहां ले आए। यहां गांधी जी उस क्रांतिकारी विचार को व्यवहार में लाना चाहते थे जो उन्होंने *अनटू दिस लास्ट* से सीखा था। इस किताब में बताया गया था कि केवल शारीरिक श्रमिक, कारीगर और किसान का जीवन ही सही अर्थों में जीने योग्य है। उन्होंने प्रेस से जुड़े सारे लोगों और डरबन में रहने वाले दोस्तों को इस साहसिक कार्य से जुड़ने और वहां आकर प्रति परिवार तीन एकड जमीन लेकर खेतीबाड़ी शुरू करने का प्रस्ताव दे दिया।

इस प्रस्ताव पर बहुत ज्यादा लोगों ने अपनी सहमति नहीं दी परंतु प्रेस के मजदूर जरूर फीनिक्स आश्रम में ही रहने और वहीं से काम करने के लिए तैयार हो गए। परंतु छगनलाल और मगनलाल जैसे कुछ लोगों ने इस प्रस्ताव का पूरा समर्थन किया। मगनलाल ने डरबन का अपना व्यवसाय छोड़ कर प्रेस के काम को सीखा और कुछ ही दिनों में उन्होंने इस काम में अपनी महारत साबित कर दी। इस घटनाक्रम के बारे में जानकर हेनरी पोलाक को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे भी जोहानसबर्ग के अखबार की नौकरी छोड़ कर फीनिक्स आश्रम में आ गए। हालांकि वह अधिक समय तक नहीं रह सके लेकिन उन्होंने बहुत अच्छा योगदान दिया। छह या सात परिवारों और कुछ छोटे बच्चों के साथ फीनिक्स आश्रम एक गांव-सा बन गया था। आज या कल, अब गांव में स्कूल की भी जरूरत होनी ही थी। गांधी जी ने भी अपनी प्रैक्टिस छोड़ दी और तीन एकड़ के अपने हिस्से पर खेती करने लगे।

बाहरी दबाव बहुत ज्यादा थे। लिहाजा, आने वाले वर्षों के दौरान उन्हें अगले महान "सत्य के प्रयोग" यानी ट्रांसवाल सत्याग्रह का नेतृत्व करना पड़ा। 1909 में गांधी जी इंग्लैंड गए और वापसी की यात्रा में जहाज पर ही

उन्होंने अपनी पुस्तक *हिंद स्वराज* के रूप में अपनी समझ को कलमबंद करना शुरू कर दिया। इसमें हक्सले की एक उक्ति के माध्यम से एक आदर्श शिक्षित मनुष्य का इस प्रकार वर्णन किया गया है :

> उसकी देह उसकी इच्छाशक्ति की दास हो और अपना काम सहजता व आनंद से करती हो . . . ! उसका मस्तिष्क प्रकृति की मूलभूत सच्चाइयों के ज्ञान से भरा हुआ हो; उसकी उत्तेजनाएं दृढ़ इच्छाशक्ति एवं कोमल चेतना से नियंत्रित हों; वह हर किस्म की बुराइयों से घृणा करना सीख चुका हो और दूसरों को वैसा ही सम्मान देता हो जैसा अपने प्रति रखता है। केवल ऐसा मनुष्य ही उदार शिक्षा से लैस हो सकता है।

जोहानसबर्ग लौटने पर गांधी जी को बड़ी शिद्दत से एक ऐसी जगह की जरूरत महसूस होने लगी जहां सत्याग्रहियों के जेल जाने के बाद उनके आश्रित रह सकें और जेल से छूटकर लौटने पर जहां सत्याग्रहियों का स्वागत किया जा सके। शुरू-शुरू में सत्याग्रहियों के आश्रितों को "जरूरत के मुताबिक" मासिक भत्ता दिया जाता था। लेकिन गांधी जी ने महसूस किया कि यह तरीका लोगों को धोखेबाजी के लिए उकसा सकता है और इसमें असली जरूरतमंदों के साथ अन्याय हो सकता है। अब जरूरत एक ऐसे सहकारिता आधारित "कॉमनवेल्थ" की थी जो जोहानसबर्ग से बहुत दूर न हो। फीनिक्स काफी दूर पड़ता था।

यह परेशानी भी गांधी जी के एक अन्य मित्र हरमान कालेनबाख ने दूर कर दी। वह एक धनी एवं सफल वास्तुकार थे। 30 मई 1910 को उन्होंने गांधी जी को पत्र लिखा और उन्हें शहर से 20 मील दूर फलदार पेड़ों से भरे एक फार्म का प्रस्ताव दिया। उनके इस प्रस्ताव को फौरन मंजूर कर लिया गया। कालेनबाख ने इस नए उपक्रम का नाम दिया - टॉल्सटॉय फार्म। पांच दिन बाद कालेनबाख स्वंय गांधी जी और उनके दो बेटों के साथ फार्म पहुंच गए और और रहवासियों के लिए व्यवस्था करने में जुट गए। जल्द ही वहां साठ या सत्तर लोग - हर उम्र की औरत, मर्द और बीस या तीस बच्चे - आ गए। इस समुदाय में तरह-तरह के लोग थे। उनमें चार भारतीय भाषाएं - गुजराती, तमिल, तेलुगू, हिंदी - बोलने वाले और चार धर्मों -हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई - के लोग शामिल थे। वे लोग अलग-अलग सामाजिक परिवेश से आए थे। और जाहिर है उन्हें एक स्कूल की जरूरत थी।

गांधी जी अनुभवों और प्रयोगों के सहारे "शिक्षा की एक सच्ची व्यवस्था" विकसित करना चाहते थे। वह ऐसी शिक्षा व्यवस्था चाहते थे जिसका सपना उन्होंने *हिंद स्वराज* में उकेरा था। वह पहले से ही आश्वस्त थे कि शिक्षा का शुरुआती केंद्र परिवार ही होना चाहिए; और टॉल्सटॉय फार्म एक बड़े संयुक्त परिवार की तरह ही चल रहा था। साझा रसोई थी, जो इसलिए संभव हो पायी क्योंकि मांसाहार करने वालों ने वहां रहने के दौरान मांसाहार बंद कर दिया था। रसोई महिलाओं की देखरेख में थी। बच्चे बारी-बारी से उन महिलाओं का सहयोग करते थे। अक्सर गांधी जी भी उनकी सहायता के लिए आ जाते थे। पूरा समुदाय, महिलाएं और बच्चे सभी, फार्म में, सब्जियों के खेत में और वर्कशॉप में काम करते थे। कालेनबाख के साथ काम करने में बच्चों को खूब मजा आता था। उन्होंने बच्चों को परिश्रम का पाठ पढ़ाया। वह बच्चों के साथ लतीफेबाजी का माहौल और दोस्ताना व्यवहार भी बनाए रखते थे। कालेनबाख के नेतृत्व में सभी मिल कर साफ-सफाई करते थे। वहां बढ़ईगीरी एवं चप्पल बनाने का काम भी चलता था। कालेनबाख ने खुद को प्रशिक्षित किया था और गांधी जी

की बारी आने पर उन्होंने गांधी जी को भी चप्पल बनाना सिखाया। शारीरिक काम करने और सादा स्वास्थ्यवर्धक भोजन से बच्चों का विकास अच्छा हुआ। बीमारियों का वजूद लगभग नहीं था। जोश में आकर लोग शरारतें भी कर बैठते थे जिससे कभी-कभी काम का भी नुकसान होता था। लेकिन ऐसी चीजों का असर सब लंबे समय तक नहीं ठहरता था। फार्म में स्पष्ट नियम था कि बच्चों को कोई ऐसा काम नहीं सौंपा जाएगा जो काम उनके शिक्षक स्वयं न करते हों। शिक्षकों को उनके हर काम में बच्चों के साथ जुटना पड़ता था। इस तरह, सारा कामकाज ठीक-ठाक चलता रहा हालांकि बच्चों के लिए यह बिल्कुल नया अनुभव था। जोहानसबर्ग स्कूल में बच्चें को और कुछ नहीं बल्कि केवल "तीन आर" (पढ़ना, लिखना और अंकगणित) सिखाए थे।

टॉल्सटॉय फॉर्म में नियमित रूप से कक्षाएं चलती थीं, दो या तीन पीरियड रोजाना। सारे पीरियड दोपहर बाद लगते थे। सुबह काम करने के बाद शिक्षक एवं बच्चे, सभी खुले आसमान तले प्राय: ऊंघते रहते थे। लेकिन एक परेशानी थी। गांधी जी और कालेनबाख ही बच्चों को सबसे अधिक पढ़ाते थे परंतु उन्हें सप्ताह में कम से कम दो दिन जोहानसबर्ग में देने पड़ते थे और उनके बाद ऐसे बहुत कम लोग थे जो पढ़ाने का काम संभाल सकते थे। फिर भी कुछ काम अच्छे हुए। गांधी जी ने खुद महसूस किया कि तमाम कमजोरियों के बावजूद "यह स्कूल ही सत्याग्रह संघर्ष का सबसे ठोस परिणाम था।" उन्होंने अनपढ़ तमिल बच्चों को तमिल सिखाने का जिम्मा खुद संभाल लिया ताकि वे अपनी भाषा में पढ़-लिख सकें। गांधी जी ने जेल में तमिल तो सीखी थी लेकिन वे तमिल बोलना ज्यादा नहीं जानते थे। इस मामले में तो वे बच्चे ही गांधी जी से अधिक जानते थे। जब तमिल बोलने वाले गांधी जी से मिलने आते थे तो ये बच्चे दुभाषिये का काम करते थे। गांधी जी अपनी अज्ञानता को छिपाने का कोई प्रयास नहीं करते थे। बाद के वर्षों में मैं भी सेवाग्राम में नई तालीम का प्रशिक्षण लेने वाले शिक्षकों को अकसर याद दिलाती रहती थी कि उन्हें अपनी अज्ञानता को कभी भी छिपाना नहीं चाहिए। जब भी ऐसा मौका पड़े तो हमें बेझिझक कहना चाहिए कि "मुझे ये नहीं पता; आओ मिल कर जानें?" यह ईमानदारी शिष्यों का मन जीत सकती है, जैसा कि गांधी जी ने किया था।

भाषा के अलावा स्कूल में अंकगणित और सुलेख की भी कक्षाएं चलती थीं। गांधी जी अपनी बेढ़ंगी लिखावट पर हमेशा अफसोस करते थे और मानते थे कि सुंदर लिखावट के बिना शिक्षा अधूरी है। बाद के वर्षों में जब गांधी जी को राजकुमारी अमृत कौर और महादेव देसाई जैसे सुंदर, साफ और आकर्षक लिखावट वाले कुछ सचिव-सहायक मिल गए तो उन्हें निश्चित ही संतोष मिला होगा। स्कूल में सामान्य ज्ञान, इतिहास, भूगोल, विज्ञान और अन्य विषयों की कक्षाएं भी चलती थीं। गांधी जी का दृढ़ विश्वास था कि इन विषयों को स्पष्ट, सुगठित किस्से-कहानियों और दिलचस्प चर्चाओं के जरिए ही पढ़ाया जाना चाहिए। अपने अनुभव के आधार पर उनका कहना था कि बच्चे अपनी आंखों की बजाय कानों से ज्यादा जल्दी और ठीक से सीखते हैं। लिहाजा, स्कूल में किताबें तो थीं परंतु पाठ्यपुस्तक शायद ही कोई थी। कुछ किताबें इस्लाम और पारसी धर्म के बारे में थीं। कुछ नोट्स "हिन्दू धर्म के मूलभूत तत्वों" के बारे में थे जो गांधी जी ने अपने बच्चों के लिए तैयार किए थे। सभी धर्मों की कक्षाओं में सारे बच्चे आते थे। स्कूल का सूक्ति वाक्य स्पष्ट था: "सभी धर्मों के लिए बराबर सम्मान और अपने धर्म से वफादारी।" इस तरह टॉल्सटॉय फार्म में धार्मिक मतभेदों को लेकर कोई झगड़ा नहीं था।

ये सब कुछ तो शारीरिक और मानसिक शिक्षा के लिए था। गांधी जी मानते थे कि आत्मा की शिक्षा पवित्र ग्रंथों से नहीं मिलती बल्कि यह तो जीवन और आचरण से आती है। बाद में, भारत आने के बाद उन्होंने एक बार कहा था कि सारे बड़े सत्य सभी धर्मों में समान हैं और उनको किताबी शब्दों के जरिए नहीं, बल्कि शिक्षक के आचरण से ही सीखा जा सकता है। बच्चों ने गुजराती, हिंदी और अंग्रजी के कई भजन सीखे, जिनका संगीत और काव्य बच्चों के दिमाग के पार जाकर कहीं गहरायी में उन्हें छूता था। लेकिन सबसे ज्यादा जोर आचरण, परस्पर सेवा, साझेदारी, सौजन्य और उद्यमिता के आध्यात्मिक गुणों पर था। और ये आध्यात्मिक गुण बड़ों के प्रेरक उत्साह, प्यार और शुद्धता के जरिए बच्चों को "सिखाए" नहीं जा सकते बल्कि उन्हें "अपनाया" जाता है। ये वरिष्ठ लोग औपचारिक "शिक्षक" हों या न हों, आसपास के बच्चों के नजरिए और उनकी आंकांक्षाओं को आकार देते हैं। टॉल्सटॉय फार्म में ऐसे ही स्त्री–पुरुष थे। मसलन, कुछ सत्याग्रहियों ने अपनी ईमानदारी और साफगोई से अधिकारियों का दिल इस कदर जीत लिया था कि चोरी के मामलों की सुनवायी के बावजूद उन्हें बिना जमानत रिहा कर दिया गया और तय तारीख को अदालत में हाजिर हो जाने के उनके आ्ाासन को मान लिया गया था। जब टॉल्सटॉय फार्म से लौटते हुए उनमें से कुछ लोगों की जोहानसबर्ग जाने वाली ट्रेन छूट गयी तो स्टेशन मास्टर ने उनको दौड़ते हुए देख लिया और उनके लिए ट्रेन रुकवा दी। उसका यह कृत्य उनकी सौजन्यता एवं दोस्ताना व्यवहार का ही फल था।

फार्म स्कूल अधिक दिनों तक नहीं चल पाया। स्थापना के एक साल बाद ही गांधी जी और जनरल स्मट्स के बीच समझौता हो गया और सत्याग्रह समाप्त कर दिया गया। कॉलोनी से परिवार निकल कर अपनी सामान्य जिंदगी में जाने लगे। वहां रुक जाने वालों में से अधिकतर मूल रूप से फीनिक्स के ही रहने वाले थे और कुछ समय बाद वे भी वापस चले गए। दो या तीन साल बाद मगनलाल गांधी के नेतृत्व में फीनिक्स के यही बच्च गांधी जी और कस्तूरबा से पहले भारत आए थे। 1915 की फरवरी में जब गांधी जी स्वयं भारत आए तब ये बच्चे लोग शांतिनिकेतन में थे। गांधी जी की प्रभावी वाणी और उन बच्चों की उपस्थिति ने ही शांतिनिकेतन की बड़ी रसोई में आत्म–निर्भरता के उस प्रसिद्ध प्रयोग को प्रेरणा दी, जिसे कविवर रवीन्द्रनाथ ने "स्वराज की कुंजी" कहा था।

इस तरह, नई तालीम के बीज दक्षिण अफ्रीका में ही बो दिए गए थे। गांधी जी ने लिखा था कि "टॉल्सटॉय फार्म में मेरा विश्वास और साहस, दोनों ही अपने चरम पर थे।" गांधी जी शिक्षा के साथ अपने इस निजी प्रयोग को एक प्रकार के नॉस्टैलजिया के साथ याद करते थे। उन्होंने अपने इस अनुभव पर खूब विचार किया और 25 साल बाद, जब एक पूरी पीढ़ी गुजर चुकी थी, तब जाकर 1937 में उन्होंने भारतीय राष्ट्र के सामने स्कूलों के बारे में अपना नजरिया पेश किया। शायद गांधी जी को गोपाल कृष्ण गोखले – जिन्हें वह जनसेवा के क्षेत्र में अपना गुरु मानते थे – का वह कथन याद था जो उन्होंने टॉल्सटॉय फार्म की यात्रा के समय कहा : "मैं कभी कोई काम हड़बड़ी में नहीं करूंगा। मैं उसके बारे में सोचूंगा; उसको अभिव्यक्त करने का केंद्रीय विचार और भाषा क्या होनी चाहिए, इसके बारे में मैं खूब विचार करूंगा।" गांधी जी भी अपने केंद्रीय विचार और स्कूलों के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति के बारे में लगातार चिंतन–मनन करते रहे।

3

नई कोपलें

1930 में गांधीजी साबरमती आश्रम से पैदल निकले और समुद्र तट पर स्थित दांडी की ओर चल पड़े। विश्व प्रसिद्ध दांडी मार्च शुरू हो चुका था। यहां गांधीजी के जीवन का एक दौर खत्म हो रहा था और अगला अध्याय शुरू हो रहा था। इस बार उन्होंने उस स्थान को छोड़ दिया था जहां वह 1915 में भारत वापसी के बाद से रहे रहे थे। उन्होंने संकल्प लिया कि जब तक भारत को आजाद नहीं करा लेंगे, तब तक आश्रम नहीं लौटेंगे।

अगले तीन साल गांधीजी के जीवन में काफी नाटकीय रहे – गांधी-इरविन समझौता, गोलमेज सम्मेलन, दमन का नया दौर और बड़े पैमाने पर गिर"तारियां। 1932 में गांधीजी ने पूना में अनशन किया जिससे "अस्पृश्यों" की बदहाली की ओर पूरे देश का ध्यान गया। उनकी इस घोषणा की ओर भी सभी का ध्यान गया कि अब अछूतों को सम्मान दिलाना ही अब उनका केंद्रीय सरोकार रहेगा। 1933 में कैद से रिहा होते ही उन्होंने पूरे देश के साथ संवाद और संचार का काम करते आ रहे *यंग इंडिया* को बंद कर *हरिजन* की शुरुआत की।

अब उनके सामने सवाल यह था कि वे कहां जाए? अपने सेवा कार्यों के लिए किस स्थान को अपना केंद्र और आधार बनाएं? उसी समय उनके मित्र जमनालाल बजाज ने उन्हें वर्धा स्थित अपने घर में विश्राम और चिंतन करने का न्योता दिया। जमनालाल बजाज काफी संपन्न लेकिन विनम्र व्यक्ति थे। उनके प्रति लोगों के आदर ने वर्धा समेत आस-पड़ोस के कई गांवों को रचनात्मक कार्यक्रमों की एक जीवंत प्रयोगशाला में तब्दील कर दिया था। विनोबा भावे यहां पहले से ही काम कर रहे थे। गांधीजी के यहां आगमन के कुछ ही समय के भीतर जमनालाल बजाज के खूबसूरत बगीचों वाले घर में ग्रामोद्योग परिषद की स्थापना कर दी गई। मगनलाल गांधी के सम्मान में इसका नाम मगनवाड़ी रखा गया क्योंकि प्रारंभिक वर्षों में खादी और अन्य कार्यक्रमों में अपनी महारत से उन्होंने अद्‌भुत योगदान दिया था। 1934 से 1936 तक गांधीजी ने मगनवाड़ी में ही रहे।

इसी दौरान मीरा बहन हरिजन आबादी वाले गांवों और उनकी कपास उत्पादन पद्धतियों को समझने-बूझने का प्रयास कर रही थीं। अंत में उन्होंने अपने सेवा कार्यों के लिए सेगांव को चुना। 1939 में आयोजित पहले बेसिक शिक्षा सम्मेलन में आशा देवी ने इस गांव का वर्णन कुछ इस तरह दिया था : "यह लगभग 700 की आबादी वाला एक छोटा-सा गांव है। गांव में आधे से ज्यादा हरिजन हैं। साल के चार-पांच महीने यहां खेती होती है, सभी के लिए काम रहता है। उस समय यहां सौंदर्य व संपन्नता का भ्रम पैदा हो जाता है। लेकिन साल के बाकी दिनों में यह गांव मध्य प्रांत के मैदानी इलाकों में धूल का एक गुबार भर होता है। हर घर में लोग बेरोजगार रते हैं। यहां पानी का इकलौता स्रोत कुछ गंदे कुएं हैं। अलग-अलग जातियों के लोग इन कुंओं को किसी को छूने नहीं देते। यहां न तो कोई पहाड़ हैं, न पेड़ हैं, और न ही बच्चों के खेलने-कूदने के लिए मैदान हैं। जमीन सिर्फ 20 परिवारों के पास है। बाकी परिवार भूमिहीन मजदूर हैं जिनमें से अधिकतर को सरकारी जेलों में मिलने वाला तीसरे दर्जे का भोजन भी मयस्सर नहीं है।"

जमनालाल बजाज इस गांव के मुख्य मालगुजार थे। उनकी भी इस बात में काफी उत्सुकता थी कि यहां क्या किया जा सकता है। मीरा बहन ने गांव के बाहर स्थित जमना लाल जी के अमरूद के बगीचे के बाहर एक कुटिया डाल ली और सादगी से रहने लगीं। उनकी सेहत के हिसाब से वहां का जीवन बहुत कठिन था। अप्रैल 1936 की गर्मी में उनकी तबियत खराब हो गई। जल्दी ही ये खबर मगनवाड़ी पहुंची।

खबर मिलते ही गांधीजी ने संदेश भिजवाया कि वह उनकी मदद के लिए आ रहे हैं। 30 अप्रैल को वह तड़के ही पांच मील दूर स्थित सेगांव के लिए पैदल निकल पड़े। वहां पहुंचने पर उन्होंने देखा कि मीरा बहन ने अपने लिए एक कामचलाऊ "डेरा" डाला हुआ था – बांस की खपच्चियों से बनी झोंपड़ी, बागीचे में ही कुएं के पास नहाने के लिए एक आड़ और गड्ढा खोद कर बनाया गया शौचालय। उन्होंने एक छायादार पेड़ के नीचे चटाई बिछा दी जहां बैठ कर गांधीजी *हरिजन* के लिए लिखायी-पढ़ायी कर सकते थे और चिट्ठियां लिख सकते सकते थे।

उस दिन गांधीजी ने गांव में संध्या प्रार्थना का आयोजन किया। उन्होंने कहा, "मैं आपके गांव में आप सबकी सेवा करने आया हूं। मैं जानता हूं कि आपमें से कई लोग मुझे आशंका और भय की नजरों से देखते हैं क्योंकि मैं छुआछूत को खत्म करना चाहता हूं। मैं मानता हूं कि ईश्वर की नजर में ब्राह्मण और चमार, दोनों ही समान हैं; सिर्फ जन्म के आधार पर ऊंच-नीच का भेद करना अपराध है। इसके बावजूद मैं अपने विचार आप पर थोपूंगा नहीं; मैं आपको सिर्फ दलीलों और उदाहरणों से समझाने की कोशिश करूंगा। मैं रोगियों की मदद करूंगा और आपको इस बात के लिए प्रोत्साहित करूंगा कि आप गांव को स्वच्छ रखें तथा ग्रामोद्योगों को बहाल करके अपने पैरों पर खड़े हों। यदि आप मेरे साथ सहयोग करेंगे तो मुझे खुशी होगी।"

यह पहला दौरा काफी संक्षिप्त रहा क्योंकि मई और जून के लिए गांधीजी का कार्यक्रम पहले से तय था। जब वह गांव से चले गए तो जमनालालजी ने गांव में ही एक कुटी का निर्माण करा दिया गया। अब उनका सारा जीवन यहीं व्यतीत होने वाला था। 15 जून को वह मगनवाड़ी लौट आए और उन्होंने संदेश भिजवाया कि अगले दिन वह सेगांव पहुंच जाएंगे। बरसात का मौसम शुरू हो चुका था और कुटी का मिट्टी का दरवाजा बिल्कुल गीला था। सेगांव में कई लोग उसे सुखाने में दिन भर लगे रहे। उस रात भयंकर तूफान आया और खूब बारिश हुई। लोगों को लगा कि ऐसे मौसम में बापू नहीं पाएंगे। परंतु संयोग देखिए कि 16 की सुबह को बादल छंट गए। गांधीजी ने पूछा, "चलें? क्या सोचते हो?" उनके भतीजे कानू ने युवकोचित उत्साह के साथ जवाब दिया, "हां, क्यों नहीं।" इस तरह गांधीजी की यह छोटी सी टोली सेगांव के लिए रवाना हो गई। अभी वे आधा मील ही चले होंगे कि एक बार फिर बादल बरसने लगे। लेकिन अब गांधीजी वापस मुड़ने को तैयार नहीं थे।

दूसरी ओर सेगांव में उनका इंतजार कर रहे सारे लोग उनकी कुटी में एक-दूसरे से सटे बैठे थे। भयानक तूफान से सब डरे हुए थे। सबको यही लग रहा था कि "इस मौसम में वह नहीं आ पाएंगे।" लेकिन वह तो पहुंच ही गए। उनकी टोली पर सबसे पहले नजर पड़ी मीरा बहन की। वे पूरी तरह तरबतर और ऊपर से नीचे तक गारा में सने हुए थे। शरीर सुखा कर कपड़े बदलने के बाद गांधीजी बोले, "यूं तो दक्षिण अफीका में मैंने एक से एक मुश्किलों को झेला है पर ऐसे तूफान में इतनी दूर तक पैदल कभी नहीं चला!"

गांधीजी ने अपने साथियों से गांव में काम–काज की योजना बनाने का आग्रह किया। वह रोज एक घंटा रोगियों की सेवा में देने लगे। उन्होने उस "सड़क" को ठीक करवाया जहां बारिश में बैलगाड़ियां फंस जाती थीं (सेगांव के लिए कोई संपर्क मार्ग नहीं था। यद्यपि वर्धा के पूरब में सड़क ठीक–ठाक थी जो जोकि ऊंची जगह थी परंतु सेगांव उससे लगभग एक मील दक्षिण में निचले इलाके में था और यही आखिरी मील असली परेशानी था)। उन्होंने आश्रम पर ही थोड़ी सी खेती शुरू कर दी और कुछ दुधारू मवेशी भी पालने लगे। वह गांव के लिए एक मॉडल तैयार कर रहे थे। इस काम में गजानन नायक ने भी मदद दी। उन्होंने गांव वालों को खजूर का गुड़ बनाने की विधि सिखाई। कुछ लोग मधुमक्खी पालन और मिट्टी के बर्तन बनाने लगे। गांधी जी स्थानीय जिला परिषद के अधीन चलाए जा रहे गांव के स्कूल में बच्चों को कताई सिखाने लगे। जल्दीद ही वहां एक कताई केंद्र खोल दिया गया।

सेगांव में जम जाने के बाद गांधीजी ने विस्तार से जाना कि गांव के स्कूल में क्या चलता है – उन्हें देश भर के हजारों स्कूलों से यहां कुछ भी अलग नहीं दिखा, न कुछ अच्छा और न बुरा। उन्होंने लिखा, "हम बगैर इस बात की परवाह किए कि बच्चों का विकास करना है या उन्हें प्रोत्साहित करना है, तमाम किस्म की सूचनाएं उनके दिमाग में ठूंसे जा रहे हैं।" बच्चे "पढ़ते" तो थे लेकिन पता नहीं कितना समझते थे (वे "लिखते" थे, लेकिन उनकी लिखावट बहुत भद्दी होती थी। गांधीजी ऐसी लिखावट को "दाउब" कहते थे। उनका दिमाग लौट–लौट कर टॉल्सटॉय फार्म के अपने स्कूल में जा पहुंचता था। वहां उनके अनुभव बहुत सुखद रहे थे। जैसा कि उन्होंने कहा था, चालीस साल से उन्हें "चश्मे में जो धुंध दिखायी दे रही थी", वह सेगांव के अनुभवों से साफ हो गयी। क्या यह इस निर्जीव, तथाकथित शिक्षा पर विराम लगा कर कुछ बेहतर तलाशने का वक्त नहीं था?

उन्हें 1937 में इसका मौका मिल गया। "ब्रिटिश भारत" के प्रांतों में निर्वाचित सरकारों ने सत्ता संभाली और उनमें से अधिकतर पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नियंत्रण था। स्वास्थ्य और शिक्षा विभागों की जिम्मेदारी भी इन्हीं सरकारों के पास थी। गांधीजी ने इन सरकारों का समर्थन किया और *हरिजन* के माध्यम से प्रांतीय सरकारों को नीतिगत दिशानिर्देशों का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि सभी प्रांतों में बुनियादी दिक्कतें एक जैसी हैं और उन्हें एक ही तरीके से हल किया जा सकता है। हालांकि वह सभी सरकारों से अपील कर रहे थे परंतु उनकी विशेष अपील कांग्रेस की सरकारों से ही थी। उन्होंने इन सरकारों से सबसे पहले गांवों की जरूरतों पर ध्यान देने का आग्रह किया। उनका सुझाव था कि सरकार नमक कर हटा ले और शराब पर राजस्व वसूली बंद करे। वे चाहते थे कि शराबखोरी के खिलाफ सरकार तीखा अभियान चलाए। उनका कहना था कि जेलों को सुधारगृह और कार्यशाला बना देना चाहिए। जहां तक शिक्षा की बात है, गांधीजी का सुझाव था कि सरकारों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे लोग अपने पास उपलब्ध साधनों के भीतर ही अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा कर सकें।

साल की शुरुआत में गांधीजी ने उन तमाम समस्याओं के बारे में बात की जिन्हें वे जरूरी समझते थे : क्या हम शराबबंदी और शिक्षा दोनों को साथ लेकर चल सकते हैं? उन्होंने कहा था, "नए सुधारों की सबसे क्रूर विडम्बना यही है कि हमारे पास बच्चों को शिक्षा देने के लिए शराब की बिक्री से आने वाले राजस्व पर निर्भरता के अलावा और कुछ नहीं है। लेकिन, बच्चों को आज जैसी शिक्षा दी जा रही है, यदि हम उसके मोह को खारिज कर सकें, तो इस समस्या से उबर सकते हैं।" मद्रास प्रांत की कांग्रेस सरकार के मुखिया और गांधीजी के परम

मित्र राजाजी ने कहा था, "यदि लोग उदार होंगे तो वे यह कह सकते हैं कि शिक्षा मिले न मिले, मगर शराबबंदी जरूर रहेगी। ऐसी शिक्षा से आखिर क्या फायदा? जैसे एक शराबी शराब के मद में धुत्त रहता है, उसी तरह एक शिक्षित व्यक्ति अपनी सुख-सुविधाओं में मदमस्त रहता है - वह भी किसी शराबी से ज्यादा सभ्य नहीं होता!" राजाजी एक बुनियादी सिद्धांत की ओर इशारा का रहे थे : वह मौजूदा शिक्षा को खारिज कर रहे थे क्योंकि वह लोभ पैदा करती है। उनका आदर्श तो एक सभ्य-सुसंस्कृत सादगी थी। गांधीजी ने इसी को असली सौंदर्य करार दिया था।

गांधीजी अपनी वार्ताओं में दो प्रमुख विचारों पर जोर दे रहे थे : पहला, मैट्रिकुलेशन तक की सामान्य शिक्षा को एक समग्र इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए, यह शिक्षा ग्रामीण स्कूलों में बच्चों की मातृभाषा में मिलनी चाहिए और इसकी शुरुआत सात साल की अवस्था से होनी चाहिए। इस शिक्षा की अवधि 7-8 साल से ज्यादा नहीं होनी चाहिए और उसमें किसी उपयोगी व उत्पादक हस्तकौशल का अभ्यास शामिल होना चाहिए ताकि स्कूल खुद को स्वावलंबी बना सकें। अध्यापकों का एक बड़ा तबका ऐसे विचारों से अनभिज्ञ था। उन्होंने ये बातें सुनते ही तमाम सवाल उठाए और इनकी आलोचना की। इन्हीं शंकाओं का जवाब देने के लिए गांधीजी ने 31 जुलाई, 1937 के *हरिजन* में अपना ऐतिहासिक लेख लिखा था :

> "शिक्षा से मेरा मतलब बच्चे शरीर, मस्तिष्क और आत्मा के सर्वश्रेष्ठ आयामों को सामने लाकर उसका चौतरफा विकास करना है। साक्षरता न तो शिक्षा की शुरुआत है, न उसका अंत है। यह सिर्फ एक साधन है जिससे लोगों को शिक्षित किया जा सकता है। साक्षरता अपने आप में शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं किसी बच्चे को शिक्षा देने की शुरुआत किसी उपयोगी हस्तकोशल से करूंगा ताकि वह प्रशिक्षण शुरू करने के क्षण से ही उत्पादन में योगदान देने लगे। इस तरह हरेक स्कूल को स्वावलंबी बनाया जा सकता है, शर्त यह है कि इन स्कूलों में जो उत्पादन होगा उसका जिम्मा राज्य को संभालना होगा।
>
> मेरा मानना है कि ऐसी शिक्षा में मस्तिष्क और आत्मा का सर्वोच्च विकास हो सकता है। किसी भी हस्तकौशल को महज यांत्रिक तरीके से नहीं सिखाया जाना चाहिए, जैसा कि आज किया जा रहा है, बल्कि इसका तरीका वैज्ञानिक होना चाहिए। बच्चे को प्रत्येक प्रक्रिया में क्यों और कैसे का जवाब मिलना चाहिए। मैंने खुद इसी तरह चप्पल बनाना और यहां तक कि सूत कातना सीखा है और मुझे अच्छे नतीजे मिले हैं। इस प्रणाली में इतिहास और भूगोल के ज्ञान को अलग नहीं किया जाता। मैं मानता हूं कि इस तरह की शिक्षा बोलते-बतियाते हुए ही सबसे अच्छी तरह दी जा सकती है। इस माध्यम से किसी बच्चे को पढ़ने या लिखने के मुकाबले 10 गुना ज्यादा सिखाया जा सकता है। बाद में आप उसे अक्षर ज्ञान भी दे सकते हैं... और जहां तक गणित की बात है, विद्यार्थी उसे हस्तकौशल के साथ-साथ ही सीख सकता है।
>
> मैं प्राथमिक शिक्षा को सबसे ज्यादा महत्व देता हूं। मेरे ख्याल से प्राथमिक शिक्षा मौजूदा मैट्रिकुलेशन के बराबर ही होनी चाहिए सिवाय अंग्रेजी के।"

यह टॉलस्टॉय फार्म के गांधी का कथन है, जिनके पास अफीका में सीखे सबकों की पुष्टि के लिए भारत में पिछले 20 साल के अनुभव थे। 1937 के भारत में उनका हरेक वाक्य अपने भीतर एक क्रांति छिपाए हुए था। शिक्षा का मकसद सिर्फ सूचनाएं देने तक सीमित नहीं है। यह प्रत्येक मनुष्य के भीतर अच्छायी की छिपी हुई संभावना को बाहर निकालने का नाम है। यह सिर्फ बौद्धिकता से ही नहीं जुड़ी है, बल्कि शरीर और आत्मा से भी इसका उतना ही सम्बन्ध है। साक्षरता तो सिर्फ एक औजार है, जो अंत तक साधन का काम करती है। यह अपने आप में साध्य नहीं है। बल्कि यह अनिवार्य तौर पर साध्य की प्राप्ति के लिए उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ औजार भी नहीं होती क्योंकि साध्य तो मनुष्य के चौतरफा विकास की उच्चतम अवस्था है। यह साक्षरता उस साधारण शिक्षा के लिए पहला औजार नहीं है जिसमें गतिविधियां और उद्देश्यपूर्ण काम आते हैं। गांधीजी ने ये सारी बातें 50 साल पहले लिखी थीं लेकिन 1987 के भारत में आज भी वही पुराने आदर्श और पुरानी आदतें कायम हैं; जो सपना उन्होंने देखा था वह आज भी अधूरा है।

गांधीजी द्वारा लिखा दूसरा पैरा भी उतना ही क्रांतिकारी है। वह शुरू से मानते थे कि शारीरिक स्वास्थ्य का आधार परिवार या समुदाय की आवश्यकताओं के लिए किया जाने वाला कठिन शारीरिक काम होता है और उससे उदार आदान-प्रदान व परस्पर सम्मान पैदा होता है। उस समय हाथों व आंखों की दक्षता तथा मस्तिष्कीय विकास के सम्बन्ध उनके सामने उतने स्पष्ट नहीं थे। ऐसा लगता है कि अपने बच्चों के साथ घर से द"तर तक रोज पैदल आते-जाते हुए या टॉलस्टॉय फार्म की "अलसायी दुपहरी" की कक्षाओं में वे अध्ययन में बच्चों की दिलचस्पी पैदा करने के लिए उनके अनुभवों का इस्तेमाल नहीं करते थे बल्कि संबंधित विषय की निहित रोचकता और किस्सागोई की कला पर ज्यादा विश्वास करते थे। 1937 में उन्होंने लिखा कि "मुझे स्वीकार करना होगा कि अब तक मैं यही कहता रहा हूं कि बौद्धिक प्रशिक्षण के साथ-साथ शारीरिक कौशल का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। परंतु अब मैं कह सकता हूं कि बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करने के लिए भी पहले शारीरिक कौशल पर जोर दिया जाना चाहिए।" इसका अर्थ यह हुआ कि मानवीय प्रशिक्षण को वैज्ञानिक होना पड़ेगा। जिस भी हस्तकौशल को चुना जाता है, प्राकृतिक विज्ञान और इंसानी इतिहास के साथ उसके संबंधों की पूरी पड़ताल की जानी चाहिए, उसके सौंदर्य और सच्चाई के मानकों की पड़ताल होनी चाहिए और इस बात की भी, कि जनकल्याण व संपूर्ण मानवता के हित में उसकी क्या भूमिका होगी। इस तरीके से सिखायी जाने वाली हस्तकौशल यांत्रिक कवायद नहीं रह जाती है बल्कि तमाम विषयों के प्रति बौद्धिक जिज्ञासा ही बढ़ाती है। इस किस्म का हस्तकौशल शोध और खोजों के लिए नए द्वार खोलता है।

इसके बाद तीसरे किस्म की क्रांति आती है। गांधीजी अलग तरह के शहरी हाई-स्कूलों के खिलाफ थे जहां पढ़ कर बच्चे शारीरिक श्रम और ग्रामीण परंपराओं को उपेक्षा की नजर से देखने लगते हैं। इसकी बजाय वे गांवों में सर्वांगीण शिक्षा के ऐसे केंद्र चाहते थे जो अंग्रेजी की अनिवार्यता से पूरी तरह मुक्त हों। मातृभाषा में शिक्षा की मांग कोई नई चीज नहीं थी। रवींद्रनाथ टैगोर कम से कम चालीस साल से इसकी वकालत कर रहे थे और उसे करके दिखा दिया था। गांधीजी उसी अवधारणा को अब गांव केंद्रित योजना के रूप में ला रहे थे जो राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा की आवश्यकता को पूरी कर सके। गांधीजी ने कहा था, "उच्चतर स्तर पर, जिन्हें विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त श्रमिकों की जरूरत है, उन्हें इंजीनियरों, केमिस्टों, फाइनेंसियरों आदि के प्रशिक्षण पर पैसे खर्च करने चाहिए। ऐसे कॉलेजों में शिक्षण को जांचने की कसौटी वे विश्वविद्यालय हो सकते हैं जिनसे वे संबद्ध हैं।

मेडिकल और कृषि विश्वविद्यालय दूसरी श्रेणी में आते हैं। डॉक्टरों के प्रशिक्षण का काम अमीरों के परोपकारी खाते से किया जाना चाहिए। ऐसे कृषि विश्वविद्यालय, जो अपने उत्पादों के माध्यम से खुद को आत्मनिर्भर नहीं बना सकते, उन्हें कायम रखने की कोई जरूरत नहीं है। राज्य को सिर्फ उन्हीं कामगारों को कॉलेज शिक्षा देनी चाहिए जो उसे अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह हेतु आवश्यक हों।

यहा गांधीजी के पहले अखिल भारतीय असहयोग आंदोलन की अनुगूंज यहां सुनायी देती है। अंग्रेजों ने 1857 के बाद जब ईस्ट इंडिया कंपनी के तहत आने वाले भारतीय क्षेत्रों का शासन अपने हाथ में लिया थ तो उसने वहां तीन "सी" की स्थापना की- काउंसिल, कोर्ट और कॉलेज। ये तीनों इकाइयां अंग्रेज सरकार की सत्ता थोपने के साधन थीं। कई साल बाद एक नई तालीम सम्मेलन में पट्टाभि सीतारमैया ने सही ही कहा था कि यह कोई संयोग नहीं था कि गांधीजी ने 1920 में इन्हीं तीनों "सी" के बायकॉट का आह्वान किया था। इसके बाद सरकारी कॉलेजों के विकल्प के तौर पर स्थापित की गई कुछ विद्यापीठों ने बेहतरीन काम भी किया, लेकिन शिक्षा की एक समेकित राष्ट्रव्यापी रूपरेखा 1937 में ही सामने आयी।

क्रांतियां परेशान करती है आर ज्यादातर लोग परेशान नहीं होना चाहते। कुछ लोग ऐसे थे जिनके पास दृष्टि भी थी और कल्पना भी थी - ऐसे लोग शुरू से ही गांधीजी की शैक्षणिक क्रांति का स्वागत कर रहे थे लेकिन अधिकतर शिक्षाशास्त्रियों ने इस पर सवाल खड़े किए। उनकी आशंकाओं में दो बातें प्रमुख रूप से आती थीं। पहली यह कि गांधीजी साक्षरता और साहित्यिक शिक्षा की उपेक्षा कर रहे हैं। दूसरी बात यह थी कि कहीं उनके श्रम-विद्यालय "सीलोन के अर्धदास बागानों की तरह" बाल श्रम के अड्डे बन कर न रह जाएं। अधिकतर आलोचकों ने गांधीजी की बातों का बिल्कुल गलत मतलब निकाला क्योंकि, गांधीजी के अनुसार, ऐसे आलोचकों के पूर्वाग्रहों ने उनकी "नजर ही धुंधली कर दी" थी। फिर भी, गांधीजी ने काफी सयंम से सारी शंकाओं का जवाब दिया। 1937 के आखिरी महीनों में *हरिजन* के पन्ने इन्हीं चर्चाओं से भरे रहते थे। यह चर्चा कई साल तक चलती रही। 1938 में जे बी कृपलानी ने एक पुस्तिका लिखी जो गांधीजी के शब्दों में "उन सारी आशंकाओं का जवाब देने की कोशिश है जिन्हें मेरी ताजा सनक कहा जा रहा था। यह पुस्तिका दिखाती है कि इस सनक का एक ठोस आधार है।" इस ताजा सनक के बारे में पढ़ना काफी दिलचस्प होगा, खासकर इसलिए क्योंकि इसमें यह बात काफी जोर देकर कही गई है कि गांधीजी के शैक्षणिक सिद्धांत दरअसल, उनके दर्शन का अनिवार्य हिस्सा थे और उनके तमाम कार्यक्रमों की ही तरह ये सिद्धांत भी अहिंसा और सच्चाई पर आधारित इंसानी समाज के उनके नजरिए से पैदा हुए थे।

खैर, अब बहस-मुबाहिसों से आगे बढ़ कर कुछ करने का वक्त आ गया था।

4

राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा 1937-1944

गांधीजी के मित्र जमनालाल बजाज वर्धा मारवाड़ी एजुकेशनल सोसायटी के अध्यक्ष थे। 1937 में सोसायटी अपनी रजत जयंती मनाने की तैयारी कर रही थी। सोसायटी के तहत वर्धा में नवभारत विद्यालय नामक हाई स्कूल चलता था। इसके प्रधानाचार्य श्रीलंका से आए तमिल शिक्षाशास्त्री ई डब्ल्यू आर्यनायकम थे। वह शांतिनिकेतन में रवींद्रनाथ टैगोर के साथ भी काम कर चुके थे। उनकी पत्नी आशा देवी एक मेधावी विद्वान थीं जिनके परिवार के शांतिनिकेतन से करीबी सम्बन्ध थे। सोसायटी के सचिव श्रीमन्नारायण का सुझाव था कि सिल्वर जुबली कार्यक्रम के मौके पर गांधीजी के शैक्षणिक विचारों पर चर्चा के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया जाए। श्रीमन्नारायण के इस प्रस्ताव को आर्यनायकम का भी समर्थन प्राप्त था। श्रीमन्नारायण ने यह प्रस्ताव गांधीजी के समक्ष रखा और कार्यक्रम की अध्यक्षता करने के लिए उनसे आग्रह किया। गांधीजी ने सहर्ष ही उनका निवेदन स्वीकार कर लिया।

यह सम्मेलन वर्धा में 22-23 अक्तूबर 1937 को आयोजित किया गया। इसमें गिने-चुने लोगों को ही न्यौता दिया गया था। आमंत्रण केवल उन्हीं लोगों को भेजा गया जो एक सच्ची भारतीय शिक्षा के बारे में वाकई गंभीर थे। इसके अलावा जामिया मिलिया इस्लामिया, गुजरात विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, मछलीपटनम स्थित आंध्र जातीय कलाशाला आदि राष्ट्रवादी शिक्षा संस्थानों को भी निमंत्रित किया गया था। नई प्रांतीय सरकारों के कुछ मंत्रियों और अधिकारियों को भी न्यौता दिया गया था। चूंकि सहभागियों की संख्या बहुत सीमित और स्तर ऊंचा था इसलिए सम्मेलन काफी उत्तेजक रहा और वहां सामने आए विचारों को सीधे अमली जामा पहनाने का रास्ता खुलने लगा।

गांधीजी ने सम्मेलन के समक्ष वही प्रस्ताव रखे जिन्हें वह पिछले दिनों *हरिजन* में लिख चुके थे। उनके प्रस्ताव इस प्रकार थे -

> "प्राथमिक, माध्यमिक और हाईस्कूल के नाम पर आज जो शिक्षा दी जा रही है, उसके स्थान पर एक ऐसी प्राथमिक शिक्षा होनी चाहिए जो सात साल या उससे लंबे समय तक चले, मैट्रिकुलेशन तक जिसमें अंग्रेजी के अलावा सारे विषय पढ़ाए जाएं, जिसमें एक ऐसा पेशेवर काम शामिल हो जिसका इस्तेमाल बच्चों के मस्तिष्क को व्यावहारिक ज्ञान की तरफ मोड़ने में किया जा सके। ऐसी शिक्षा अपनी समग्रता में निश्चित तौर पर स्वावलंबी होनी चाहिए। स्वावलंबन ही उसकी वास्तविकता की असली कसौटी है।"

गांधीजी ने कहा कि वह किसी पर अपने विचार नहीं थोपना चाहते। उन्होंने स्वतंत्र और बेबाक आलोचना का स्वागत करते हुए कहा कि वह इस बारे में हर किस्म के भ्रम को दूर कर देना चाहते हैं। मिसाल के तौर पर, ये कहा जा रहा था कि गांधीजी साहित्यिक शिक्षा के खिलाफ हैं। यह भी कहा जा रहा था कि स्कूलो में बच्चों का शोषण होने लगेगा क्योंकि उन्होंने अपनी योजना में "धार्मिक शिक्षा" को शामिल नहीं किया है। गांधीजी ने अपने भाषण में कई ऐसे बिंदुओं को स्पर्श किया जो आज 50 साल बाद भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने तब

थे। उन्होंने कहा था, "शिक्षा की मौजूदा व्यवस्था न सिर्फ अपव्ययी है, बल्कि निश्चित रूप से हानिकारक है। बच्चे अपने मां-बाप, अपने गांव, अपने पारंपरिक कौशल से दूर होते चले जाते हैं। वे छोटे-छोटे बाबूगीरी वाले कामों पर निर्भर होकर निस्सहाय हो जाते हैं; वे बुरी आदतें और शहरी अकड़ का शिकार हो जाते हैं और गांवों के ईमानदार शारीरिक श्रम की उपेक्षा करने लगते हैं जिस पर हम सभी निर्भर हैं।"

"मैं साहित्यिक शिक्षा का विरोधी नहीं हूं, बल्कि मैं तो ऐसी शिक्षा देने का सही तरीका बताना चाहता हूं ताकि हमारे बच्चे हमारी संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि बन सकें और उनमें हमारे राष्ट्र की सच्ची मेधा झलकती हो। जहां तक शोषण की बात की जा रही है, तो मैं पूछना चाहता हूं कि क्या हम किसी बच्चे को विनाश से बचाकर कुछ गलत कर रहे होते हैं? जब बच्चे खुद अपनी मेहनत के रूप में अपनी पढ़ायी का मोल चुकाएंगे तो वे ज्यादा साहसी बनेंगे और उनमें ज्यादा आत्मविश्वास आएगा। अब सवाल उठता है कि मैं धार्मिक शिक्षा पर जोर क्यों नहीं देता? इसका कारण ये है कि यह व्यवस्था हिंदुओं, मुसलमानों, पारसियों, ईसाइयों, सभी के लिए समान है। और मैं सभी को व्यावहारिक धर्म - स्वावलंबन - का, यानी अपनी मदद खुद करने का पाठ पढ़ा रहा हूं। यह पूरी योजना अहिंसा के मूल्य से ही पैदा होती है। यह अहिंसा और सत्य का एक अनिवार्य अंग है।"

इस मसले पर काफी गहन चर्चा हुई, नए-नए विचार सामने आए। नालवाड़ी आश्रम का काम देख रहे विनोबा भावे ने गांधीजी के इस खयाल का समर्थन किया कि तकली पर कतायी सीखने वाले बच्चों के लिए इस अभ्यास में काफी शैक्षणिक संभावनाएं मौजूद हैं। (लेखिका को खुद याद है कि केम्ब्रिज में सामाजिक इतिहास के अध्ययन के दौरान पुरातात्विक स्थलों पर पायी गई "घेरेदार तश्तरियां" कितना भ्रमित करती थीं (परंतु कई साल बाद उसे यह जान कर बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ था कि पत्थर या मिट्टी की बनी ये चकरियां असल में प्राचीन तकली थीं जिनके बांस या लकड़ी के लट्ठे काफी पहले सड़ चुके थे)।

काका साहब कालेलकर ने कुछ ऐसी बातों का हवाला दिया जो आने वाले सालों में और ज्यादा अर्थपूर्ण हो गए थे। उन्होंने कहा, "आओ शिक्षा को कक्षा की चारदीवारी से मुक्त कराएं.... अपनी स्कूलिंग को कभी अपनी शिक्षा पर हावी न होने दो!" (हैरानी की बात है कि चाहे सरकार के भीतर हों या बाहर, आज कितने सारे लोग यही सोचते हैं कि शिक्षा और स्कूलिंग एक ही चीज हैं!) आशा देबी ने बताया कि टैगोर की तरह गांधीजी के शिक्षा संबंधी विचार भी आंशिक रूप से प्राचीन भारतीय गुरुकुल परंपरा से निकले हैं इसलिए यदि हमें इन विचारों पर रचनात्मक तरीके से काम करना है तो हमने जो सीखा है अपने जहन से उसे पोंछ कर एक नई शुरुआत करनी होगी।

सम्मेलन में ये प्रस्ताव पारित किए गए :

1. राष्ट्रव्यापी स्तर पर सात साल की मु"त और अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए(

2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

3. इस दौरान शिक्षा की प्रक्रिया किसी न किसी उत्पादक शारीरिक कार्य के इर्द-गिर्द केंद्रित होनी चाहिए तथा हर गतिविधि या प्रशिक्षण को जहां तक संभव हो, उस केन्द्रीय हस्तकौशल के साथ जोड़ा जाना चाहिए जिसे

बच्चे के वातावरण को ध्यान में रख कर चुना गया है ताकि इस हस्तकौशल से बनने वाले उत्पादों से शिक्षकों का खर्च निकाला जा सके।

इन प्रस्तावों को फरवरी–मार्च 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अगली सालाना बैठक में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तौर पर स्वीकार कर लिया गया। इसमें घोषणा की गई, "राष्ट्र की प्रगति अंततः लोगों को मिलने वाली शिक्षा की पद्धति, विषय–वस्तु और उद्देश्य पर निर्भर करती है।" एक व्यावहारिक कार्यक्रम का विकास व मार्गदर्शन करने के लिए एक स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षा परिषद का गठन किया गया और उसे हिंदुस्तानी तालीमी संघ का नाम दिया गया।

आज 50 साल बाद "राष्ट्रीय शिक्षा" की इस तस्वीर पर नजर डालने के बाद कोई भी इन चारों बिंदुओं में से हरेक पर सवाल खड़ा किए बिना नहीं रहेगा। पहले बिंदु से यह पता नहीं चलता कि इसमें बाल्यावस्था के कौन से सात वर्षों का जिक्र किया जा रहा है। गांधीजी इस बात को लेकर आश्वस्त थे कि इस शिक्षा की शुरुआत तब होनी चाहिए जब बच्चा सात साल का हो चुका हो क्योंकि तब तक बच्चों की मांसपेशियों के बीच पर्याप्त समन्वय आ जाता है जोकि हस्तकौशल का आनन्द लेने के लिए आवश्यक होता है। भारत के अधिकतर इलाकों में आम तौर पर बच्चों को छठे या पांचवे साल में ही स्कूल भेज देने का चलन था। अगर यही चलन बेसिक स्कूलों में लागू किया जाता तो मोहभंग की स्थिति पैदा हो सकती थी क्योंकि इस उम्र तक बच्चे पर्याप्त रूप से परिपक्व नहीं होते हैं (हमारे आधुनिक "अंग्रेजी माध्यम" के नर्सरी स्कूलों में तो बच्चों को नुकसान पहुंचाने के एक से एक उदाहरण मौजूद हैं। उन्हें ऐसी चीजें सीखने को दी जाती हैं जिनके लिए उनका दिमाग परिपक्व और तैयार नहीं होता – 3 साल के नन्हे बच्चों से उम्मीद की जाती है कि वे अंग्रेजी की वर्णमाला में महारत हासिल कर लें!)।

सात साल की अवधि अगर जल्दी शुरू होती है तो जल्दी ही खत्म भी हो जाती है। गांधीजी ने न केवल पढ़ायी पूरी करने के लिए चौदह साल की उम्र को न्यूनतम उम्र माना बल्कि वे तो स्कूली शिक्षा को पन्द्रहवें या सोलहवें वर्ष तक भी जारी रखने के हिमायती थे। तालीमी संघ ने खुद यह सिफारिश की थी कि स्कूली शिक्षा के लिए सात से सोलह साल की उम्र सही रहेगी। यह बात मनु की उस पुरानी कहावत से जाकर जुड़ती है जिसमें सोलहवें साल को एक उत्तरदायित्वपूर्ण वयस्क जीवन में प्रवेश का द्वार बताया गया था और विनोबा भावे गांधीजी के शैक्षणिक विचारों के प्रसार में इस बात का अक्सर हवाला देते थे। क्या आज हमारे शिक्षाशास्त्रियों को इस सवाल पर गंभीरता से नहीं सोचना चाहिए?

सम्मेलन के पहले ही प्रस्ताव से एक और सवाल पैदा होता है : क्या शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए?" क्या "अनिवार्यता" का विचार गांधीजी के समूचे दर्शन के लिए बाहरी चीज नहीं है? उन्होंने यंग इंडिया में 14 अगस्त 1924 को लिखा था, "मुझे किसी भी तरह की अनिवार्यता से चिढ़ है। मैं नहीं चाहता कि यह राष्ट्र किसी अनिवार्यता के कारण शिक्षित हो.... किसी भी समाज के सही विकास के लिए इस विश्वास से ज्यादा हानिकारक चीज और कोई नहीं हो सकती कि स्वैच्छिक प्रयासों से कोई सुधार नहीं लाया जा सकता। इस तरह से प्रशिक्षित व्यक्ति स्वराज के लिए कतई उपयुक्त नहीं होगा।"

"अनिवार्यता" का आशय राज्यसत्ता द्वारा नियंत्रण से है। गांधीजी अकसर कहते थे कि वह राज्यसत्ता की ताकत में किसी भी इजाफे से "सबसे ज्यादा भय" खाते हैं क्योंकि वह निजी पहलकदमी का दमन करती है। जब विनोबा भावे इस बात पर जोर दे रहे थे कि शिक्षा को राज्य के नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए तो संभवत: वह भी सममेलन के आनौपचारिक प्रस्तावों की बजाय गांधीजी की इस सोच को ही प्रतिध्वनित कर रहे थे। इसके बावजूद हम देखते हैं कि 1937-38 में गांधीजी बार-बार एक प्रकार से राज्य द्वारा नियंत्रण को मान्यता देते नजर आते हैं : "राज्य सात साल की उम्र में बच्चे का नियंत्रण अपने हाथ में ले ले और उसे एक कमाऊ व्यक्ति के रूप में परिवार को वापस लौटाए।" या, कि यदि राज्य स्कूलों में बने उत्पाद खरीद ले तो स्कूल अपना खर्चा खुद निकाल सकते हैं। एक जगह वे इस बात पर जोर देते हैं कि बेसिक शिक्षा के प्रयोगों को कामयाब बनाने के लिए उन्हें स्वतंत्र रूप से चलाना होगा और उसमें कोई बाहरी दखल नहीं होना चाहिए। इन विरोधाभासों की चाहे जो व्याख्या की जाए मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्य और शिक्षा के सम्बन्धों का मसला आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है और उसके बारे में हमें बहुत सावधानी से सोचने की जरूरत है।

सम्मेलन में लिए गए अन्य प्रस्तावों पर विवाद की इतनी गुंजाइश नहीं हैं। दूसरे प्रस्ताव के संदर्भ में जे.बी. कृपलानी ने तुरंत इस बात की ओर इशारा किया कि बेसिक शिक्षा में शिक्षा का वास्तविक माध्यम काम है, भाषा नहीं। मातृभाषा तो सिर्फ संचार का माध्यम है, वह शिक्षा का माध्यम नहीं है। जो लोग स्कूलों के लिए विस्तृत योजना तैयार कर रहे थे उन्हें यह बात जल्द ही समझ में आ गई कि न केवल किसी हस्तकौशल के "वैज्ञानिक" पक्ष में शिक्षा के वास्तविक संसाधन और स्रोत छुपे होते हैं बल्कि एक बच्चे के प्राकृतिक वातावरण और उन सामाजिक संबंधों में भी शिक्षा के समृद्ध संसाधन निहित होते हैं, जिनसे वह जुड़ा होता है।

इन क्रांतिकारी स्कूलों के लिए सबसे पहली जरूरत ये थी कि उनके लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाए। इसके लिए हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने अप्रैल 1938 में वर्धा में एक ट्रेनिंग स्कूल खोला जिसका निदेशक आर्यनायकम को बनाया गया। फिर इस प्रशिक्षण स्कूल के तहत सेगांव में एक स्कूल खोला गया। सेगांव मध्य प्रांत का हिस्सा था जहां कांग्रेस की सरकार थी। इस काम को कांग्रेस का पूरा समर्थन प्राप्त था। गांधीजी के इस नए प्रयोग को शुरू करने के लिए गांव का पुराना स्कूल बंद कर दिया गया।

सेगांव ग्राम स्कूल और वर्धा प्रशिक्षण स्कूल, यही दो स्कूल थे जिन्होंने दिसंबर 1938 में मेरी पहली यात्रा में मुझे इतना अभिभूत कर दिया था। पूरा वातावरण उत्साह और कुछ नया करने व खोजने की प्रेरणा से भरा हुआ था। प्रशिक्षण स्कूल के तहत वर्धा में ही एक प्रायोगिक स्कूल भी था। वहां जुलाई से सितंबर 1938 के बीच सात और आठ साल के बच्चों ने हस्तकौशल का जो भी काम किया, उसका पूरा रिकॉर्ड रखा जा रहा था।

जिन हस्तकौशलओं को चुना गया था, उनमें कपड़े की बुनाई शामिल थी जिसकी शुरुआत तकली पर कताई से होती थी परंतु आने वाले सालों में कपास उगाने से लेकर उसकी छंटाई, सुखाना, रेशों की रंगाई और तैयार कपड़े पर डिजाइनिंग आदि उसके सारे पहलुओं का समावेश किया जाना था। शुरुआती तीन महीनों में तकली ही काम के केंद्र में रही। पहले यह माना जा रहा था कि बच्चे इस काम से ऊब जाएंगे और यह उन पर बोझ बन जाएगा, लेकिन इसके ठीक विपरीत उन्होंने तो इसे एक दिलचस्प खिलौने के रूप में लिया और शुरुआती तीन महीनों के दौरान उत्पादन में अभूतपूर्व इजाफा दिखायी दिया। जुलाई में केवल 74 लच्छे सूत काता गया था

जबकि सितंबर 251 लच्छे तैयार हुए। सितंबर के अंत तक कुछ बच्चे 39 गणनांक की बारीकी तक सूत कातने लगे थे जबकि औसत गुणवत्ता 13 गणनांक की थी जो काफी ठीकठाक मानी जाती है। सबसे कम र"तार एक घंटे में 100 फुट सूत की थी जबकि अधिकतम र"तार से काम करने वाला बच्चा 500 फुट से भी ज्यादा सूत कात लेता था। फिर भी, औसत आंकड़ा 250 फुट सूत प्रति घंटा था। गौर करने वाली बात है कि इन बच्चों को विशिष्ट तौर पर चुना नहीं गया था परंतु उनके नतीजों को जाकिर हुसैन कमेटी द्वारा बनाए गए पाठ्यक्रम में उल्लिखित उत्पादन मानकों को जांचने में इस्तेमाल किया गया।

दूसरे क्षेत्रों में भी सेगांव के इस स्कूल ने बड़ी उपलब्धियां हासिल की थीं। जब काम शुरू किया गया था, उस वक्त गांव का तकरीबन हर बच्चा जुआ खेलता था, जातीय संकीर्णता अपने चरम पर थी और व्यक्तिगत स्वच्छता या वातावरण की साफ-सफाई को लेकर कोई संवेदनशीलता नहीं थी। कुछ ही माह बाद बच्चों में मित्रता और सहयोग की भावना दिखायी देने लगी। एक सादा लेकिन साफ-सुथरे स्कूल में बच्चे अपने काम में काफी सक्रिय दिखायी दिए। वे अपने साथियों और शिक्षकों के साथ मिल कर इस माहौल को अच्छा बनाए रखने को हमेशा तत्पर थे। उनके पास बाहरी दुनिया के बारे में जानने की भारी जिज्ञासा थी।

इस काम को पूरे भारत में फैलाने के लिए काफी प्रयास किए जा रहे थे। सांगठनिक स्तर पर शहरों की बजाय गांवों में ऐसे स्कूल खोलने की योजना बनायी गई और शिक्षकों की उपलब्धता के आधार पर शहरों के इर्द-गिर्द स्कूलों का एक तंत्र विकसित करने का फैसला लिया गया जिससे किसी भी शिक्षक को अकेलापन या अलगाव महसूस न हो बल्कि उन्हें अपने आस पास एक विस्तृत समूह के होने का बोध मिले। इस योजना को तमाम प्रांतीय सरकारों ने अपने-अपने स्तर पर लागू किया- बिहार, बॉम्बे, मध्य प्रांत, मद्रास, उड़ीसा, संयुक्त प्रांत और कश्मीर। केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने इस प्रयोग को एक वैध मॉडल के तौर पर मंजूरी दे दी। तालीमी संघ ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मान लिया कि एक कक्षा में छात्रों की अधिकतम संख्या 25 या हद से हद 30 तक हो सकती है (यह किसी भी स्कूल के लिए काफी अनिवार्य बाध्यता है, हालांकि इसका पालन नहीं किया जाता)। शिक्षकों को पर्याप्त वेतन दिया जाए और स्कूल को हस्तकौशल से होने वाली आय तथा उसके शिक्षकों की तनख्वाह के बीच कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होना चाहिए।

जहां तक शिक्षा की विषयवस्तु का सवाल था तो बुनियादी हस्तकौशल के चुनाव को लेकर काफी सोच-विचार किया गया। तलाश एक ऐसे कौशल की थी जिसमें व्यापक शैक्षणिक संभावनाएं हों और जिसमें मिल-जुल कर काम किया जा सके, उसमें काम की योजना और क्रियान्वयन को उपयुक्त स्थान मिले, बच्चों की पहलकदमी के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता हो तथा बच्चे अपने विकास की खुद जिम्मेदारी लें। जैसे-जैसे वक्त बीतता गया इस बात पर सहमति बनती गई कि बच्चों के लिए वही हस्तकौशलएं बेहतर होंगी जो मानवीय आवश्यकताओं से जुड़ी हुई हैं - जैसे खाने पीने की चीजें व कपड़े बनाना, रोजाना के जीवन में जरूरी बरतन और आवास मुहैया कराने के लिए मिट्टी और लकड़ी से जुड़े काम आदि।

इस बुनियादी हस्तकौशल के अलावा कमेटी का जोर इस बात पर भी था कि हरेक स्कूल में संगीत और चित्रकला को भी नियमित पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जाए। आर्यनायकम ने इस काम के लिए शांति निकेतन के अपने अनुभवों का सहारा लिया और पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए अपने मित्र महान कलाकार नंदलाल बोस से

मदद ली। 1939 के वसंत तक इस बात की जरूरत महसूस होने लगी थी कि इस काम की प्रगति का जायजा लेने के लिए राष्ट्रीय स्तर की एक बैठक बुलायी जाए ताकि आगे की योजना बनायी जा सके। इस वक्त तक नौ प्रांतों और राज्यों में 247 बेसिक स्कूल और 14 प्रशिक्षण स्कूल कायम किए जा चुके थे। इस कार्यक्रम में बम्बई सरकार काफी सक्रिय थी और उन्होंने पुणे में कार्यकर्ताओं की बैठक का आयोजन किया। यह अक्टूबर 1939 की बात है। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो चुका था और राजनीतिक हालात काफी अनिश्चित थे। बहरहाल, सम्मेलन में तय किया गया कि भविष्य में चाहे जो हो, बेसिक शिक्षा को रोका नहीं जा सकता। सम्मेलन के प्रस्ताव में कहा गया था कि "न्याय, सहकारिता, उत्पादनशील श्रम और वैयक्तिकता के प्रति सम्मान पर आधारित शिक्षा की नई विचारधारा ही शांति, न्याय और मानवता का अ्आसन दे सकती है। चाहे कैसे भी राजनीतिक बदलाव आएं, इसे जारी रखना ही होगा।" इस प्रयोग को शुरू हुए एक साल से कुछ ही ज्यादा हुआ था, लेकिन बच्चों के शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक विकास के बारे में जो रिपोर्टें आ रही थीं, वे काफी प्रोत्साहित करने वाली थीं। इसे जारी रखने का फैसला बिल्कुल सही साबित हुआ और कांग्रेस सरकारों के इस्तीफे से भी इस अभियान पर बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ा, सिवाय मद्रास के, जहां कोयम्बटूर के बेसिक ट्रेनिंग स्कूल को अप्रैल 1940 में बंद करना पड़ा।

डेढ़ साल बाद डॉ. जाकिर हुसैन के न्यौते पर अप्रैल 1941 में दिल्ली के जामिया नगर में बेसिक शिक्षा पर दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। बेसिक शिक्षा सम्मेलन में शिरकत का यह लेखिका का पहला अनुभव था जो अभूतपूर्व साबित हुआ। (1939 के सम्मेलन में मैं शांति निकेतन में अपने नए-नए काम को छोड़ कर पुणे की लंबी यात्रा पर नहीं जा सकती थी)।

1941 की इस बैठक का एक महत्वपूर्ण पहलू ये था कि शिक्षा में कलाओं के विषय पर खूब समय दिया गया ओर इस सवाल पर बेहद गंभीर चर्चा चली। वक्ताओं का कहना था कि कला को महज अतिरिक्त विषय या विलासिता के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। हाथ से जो भी उपयोगी और सुंदर काम किए जा सकते हैं, उन्हें कला के क्षेत्र में रखा जाना चाहिए। कपड़ों के डिजाइन, रंगों, पैटर्न, बर्तनों और मकानों के निर्माण, अल्पना, प्रकाश, संगीत, नृत्य के माध्यम से त्यौहारों के आयोजन, खूबसूरत किताबों की छपाई तथा बच्चों के खिलौनों जैसी तमाम चीजों में कलात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इस तरह हस्तकौशल और कलाएं वास्तव में एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं।

इस सम्मेलन में डॉ. जाकिर हुसैन ने भी शिक्षा में श्रम के महत्व पर काफी विचारोत्तेजक भाषाण दिया। उन्होंने कहा, "काम के अपने आदर्श होते हैं। यह कोई मनोरंजन या खेल नहीं है, यह एक उद्देश्य से संचालित गतिविधि है। काम में उस उद्देश्य के प्रति न्याय की एक इच्छा निहित होनी चाहिए, और सामग्रियों, विधियों व औजारों के प्राकृतिक अनुशासन का सम्मान करना चाहिए। यह एक निर्मम आत्मालोचना की मांग करता है परंतु इसमें जो आनंद मिलता है, उसका कोई जोड़ नहीं होता।

"काम को शरीर और मस्तिष्क के लिए शिक्षाप्रद बनाने के लिए जरूरी है कि वह नियोजित हो और उसकी सामग्री व औजार तैयार हों। उसका क्रियान्वयन व मूल्यांकन भी समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं। इससे निपुणता में तो वृद्धि होगी लेकिन व्यक्तिगत निपुणता अपने आप में कोई साध्य नहीं है। यहां तक कि आत्मानुशासन के

पीछे भी व्यक्ति का इरादा खालिस स्वार्थी हो सकता है। काम ऐसा होना चाहिए जो केवल निजी उद्देश्यों से उच्चतर मूल्यों को साकार करता हो, ऐसे मूल्य जिनका हम सम्मान करते हैं।

"वर्क स्कूल एक ऐसा समुदाय है जो एक साझा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काम करता है। श्रम के सहकारी मॉडल में किसी एक सदस्य की गलती दूसरों के सारे काम को बरबाद कर सकती है। इस तरह के काम में तेज काम करने वाला व्यक्ति धीमा काम करने वाले व्यक्ति को पीछे नहीं छोड़ सकता। सहकारिता सदस्यों को सिखाती है कि वे अपनी-अपनी क्षमता और प्रवृत्तियों में असमानता के बावजूद किस प्रकार एक-दूसरे का सहयोग कर सकते हैं, यह उन्हें अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को स्वीकार करना सिखाती है। लेकिन व्यक्ति की तरह स्कूल को भी अने से बड़े किसी उद्देश्य के लिए काम करना चाहिए, नहीं तो वह भी व्यक्तिगत लोभ के स्थान पर केवल सामूहिक लोभ को ही स्थ्झापित कर देगा। स्कूल के लघु समाज अपने इर्द-गिर्द के व्यापक समाज की सेवा योगदान देना चाहिए।"

ये शब्द आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितना उस समय थे। जाकिर हुसैन ने ये शब्द इस सम्मेलन के लिए गांधीजी द्वारा भेजे गए संदेश के बाद कहे थे। गांधी जी ने अपने संदेश में लिखा था : "हमारे प्रयास की कामयाबी सरकार पर नहीं बल्कि खुद हम पर ज्यादा निर्भर करती है। हमारे प्रयोग की सघनता के लिए जरूरी है कि उसमें किसी तरह की कोई मिलावट और बाहरी दखल न हो।" जाकिर हुसैन ने इसी बात को प्रस्थान बिंदु बनाते हुए गांधीजी के संकल्पों को अपने शब्दों में प्रस्तुत किया और कहा कि तमाम राष्ट्रीय गतिविधियों की तरह हमारी शिक्षा भी अहिंसा पर ही आधारित होनी चाहिए ताकि हम एक "अच्छा राज्य" निर्मित कर सकें जहां सभी को न्याय व समान अवसर मिलें।

उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा कि हमारे समाज में आज "भाई ही भाई के खिलाफ खड़ा है, जहां कोई ऐसा गीत नहीं जिसे सब मिलकर गा सकें और ऐसी कोई खुशी नहीं जो सबकी साझी हो।" उन्होंने श्रोताओं का आह्वान किया कि वे एक ऐसे राज्य के लिए काम करें, "जहां एक समुदाय दूसरे पर भरोसा कर सके; जहां कमजोर व्यक्ति ताकतवर के आतंक तले न रहे, जहां गरीब को अमीर की उपेक्षा और अपमान न झेलना पड़े; एक ऐसा राज्य जहां एक साथ विभिन्न संस्कृतियां फले-फूलें और हरेक संस्कृति एक-दूसरे के अच्छे पहलुओं को अपनाए; जहां हरेक नागरिक अपने संसाधनों, व्यक्तित्व और सर्वश्रेष्ठ गुणों को समाज के लिए अर्पित करे ओर उसके काम आ सके।"

उन्होंने कहा कि संभव है ऐसा श्रेष्ठ राज्य अभी एक दूर का सपना हो, लेकिन राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा का कर्त्तव्य यही है कि वह अभी से इस दिशा में प्रयास करे। यदि हमने आज ही शुरू नहीं किया तो "वक्त आने पर हम अनुभव और ज्ञान के अभाव में एक अच्छे राज्य की रचना के कार्यभार को पूरा नहीं कर पाएंगे।" इस दिशा में वर्क स्कूल मार्गदर्शन कर सकता है क्योंकि सबसे बेहतर और व्यवस्थित राज्य में भी नई खोज और प्रयोग की संभावनाएं बनी रहती हैं।

इस दौरान इन बुनियादी सिद्धांतों पर चले संवाद के अलावा विभिन्न संस्थानों और समूहों के बीच अनुभवों का भी आदान-प्रदान चल रहा था। बहुत सारे लोग अपने कामों में तरह-तरह की आशंकाओं से जूझ रहे थे। अमीर

क्रांति से डरते थे तो गरीबों को डर था कि कहीं उनके बच्चे भेड़-बकरी चराना न छोड़ दें। कई लोगों को गांधीजी द्वारा अस्पृश्यता की मुखालफत पसंद नहीं थी। कुछ ने साम्प्रदायिक आशंका के माहौल में विपक्ष की भूमिका पकड़ ली और कहने लगे कि यह योजना तो "एक हिंदू" द्वारा लायी गई है। स्थानीय स्तर पर इस किस्म के संदेहों को धीरे-धीरे शांत कर लिया गया। माता-पिता इस बात को समझने लगे कि इस शिक्षा से बच्चों का शारीरिक और मानसिक विकास हो रहा और वे धीरे-धीरे इसको मंजूर करने लगे। बेसिक स्कूलों में बच्चों द्वारा किए गए प्रयासों की उत्साहजनक रिपोर्टें सामने आने लगी। कई जगह उन्होंने क्रीड़ा केन्द्र, स्कूल में बगीचे, विद्यालयी दुकानें और बचत बैंक आदि शुरू किए थे। कई बच्चों ने स्कूल में सिखे गए हस्तकौशल का इस्तेमाल अपने घर की आय बढ़ाने के लिए भी किया।

कुछ ऐसे सवाल भी उठाए गए जो आने वाले वर्षों में सेगांव (जिसे अब सेवाग्राम कहा जाता है) और अन्य स्थानों पर बार-बार कार्यकर्ताओं के सामने आने वाले थे। एक मसला ये था कि बच्चों द्वारा तैयार किए गए सूत का क्या किया जाए। गांधीजी का हवाला देते हुए बेसिक शिक्षा कार्यकर्ताओं का कहना था कि इसकी जिम्मेदारी सरकार को लेनी चाहिए। लेकिन सरकारें उसका जिम्मा लेने को तैयार नहीं थीं क्योंकि अफसरशाही की राय में बाजार में इस माल की मांग नहीं थी। शिक्षक भी नौसिखिए ही थे इसलिए समझ नहीं पाते थे कि बच्चों द्वारा बुने गए सूत का क्या करें। वे उसका इस्तेमाल आसन, कूदने की रस्सी या ब्लैकबोर्ड पोंछने वाले डस्टर जैसी चीजें बनाने में ही कर पाते थे। कई शिक्षक सूत कातने के काम को केवल एक प्रतीकात्मक गतिविधि मानते थे क्योंकि वे आजादी की लड़ाई में सूत कातने के महत्व से परिचित थे। वे इस बात अवगत नहीं थे कि यदि कपड़ा बुनने के काम से इसे अलग कर दिया जाता है, तो यह निरर्थक और उद्देश्यहीन उद्यम हो जाता है।

इसी से जुड़ा मुद्दा शिक्षकों के प्रशिक्षण का था। 1941 के सम्मेलन में यह सवाल उठाया गया था कि ट्रेनिंग स्कूलों में सामान्य विषयों के लिए अलग और हस्तकौशल के लिए अलग शिक्षक रखना वास्तव बेसिक शिक्षा के सिद्धांतों के अनुकूल होगा या नहीं? इसका जवाब स्पष्टत: "नहीं" में था। तो फिर इसका विकल्प क्या हो? क्या प्रशिक्षण स्कूल में प्रवेश के लिए मैट्रिक की योग्यता की मांग बंद कर दी जाए और यह शर्त रखी जाए कि यहां आने के लिए उम्मीदवार ने हस्तकौशल के माध्यम से कम से कम दो-तीन साल तक अपनी आजीविका अर्जित की हो? हो सकता है कि कोई कारीगर अपनी कला के वैज्ञानिक आधार या सांस्कृतिक जड़ों से उतना परिचित न हो, लेकिन कम से कम उसने अपनी कला में एक दक्षता तो हासिल कर ही ली होगी। ऐसे में जरूरत बस उसे व्यापक सामान्य ज्ञान देने की होगी। दरअसल, प्रशिक्षण के लिए उम्मीदवारों का मैट्रिक पास होना इसी प्रस्थापना पर आधारित था कि उनके पास यह सामान्य ज्ञान पहले से होगा, हालांकि इस कसौटी पर वे कभी-कभार ही खरे उतरते थे। यह द्वंद्व आगे भी जारी रहा। अन्य जगहों की तरह सेवाग्राम में भी कई शिक्षक ऐसे थे जिन्हें हस्तकौशल में सीमित या विस्तृत महारत हासिल थी परंतु प्राय: वे ऐसे नहीं थे जो इसके माध्यम से अपनी आजीविका चला सकते। विडंबना ये थी कि इसके बावजूद छात्रों से उम्मीद की जाती थी कि वे अपने पाठ्यक्रम के अंत तक खुद ऐसा करने में सक्षम हो जाएंगे।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि 1941 में किताबों की जरूरत पर काफी चर्चा हो रही थी। शिक्षकों को किताबों की जरूरत थी ताकि वे हस्तकौशल के माध्यम से मानवीय ज्ञान और अनुभव के विभिन्न पहलुओं में

अपने छात्रों की दिलचस्पी पैदा कर सकें। दूसरी ओर छात्रों को ऐसी किताबों की जरूरत थी जो उनकी दिलचस्पी और जिज्ञासा की प्यास बुझा सके। दोनों को ही सामान्य, तकनीकी और संदर्भ पुस्तकों की जरूरत थी। दोनों पक्ष पारंपरिक स्कूलों के उस संकीर्ण परिदृश्य को पार कर जाना चाहते थे जहां की किताबें एक पाठ्यक्रम के दायरे में बंधी हुई थीं। तालीमी संघ के नेताओं का कहना था, "किताबें तो हैं, लेकिन जीवन और सक्रियता के विकल्प के तौर पर नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन और ज्यादा प्रभावशाली सक्रियता के लिए एक सहायक की भूमिका में हैं। एक अच्छा बेसिक स्कूल ऐसा होना चाहिए जो बच्चों को खोज के लिए किताबों तक ले जाए जहां उसे सुख मिले। ये दोनों ही ध्रुव पाठ्य-पुस्तक की मानसिकता से अलग हैं और वहां नहीं पाए जाते।"

यह एक ऐसा बिंदु था जिस पर सेवाग्राम समुदाय थोड़ी-बहुत ठोस कामयाबी का कुछ दावा कर सकता है। जैसे-जैसे यह समुदाय विकसित होता गया उसने एक पुस्तकालय बना लिया जहां शिक्षक और छात्र समान अधिकार से जाकर पढ़ाई कर सकते थे। बाद में मुझे भी इस पुस्तकालय को संभालने का मौका मिला और मुझे अब भी याद है कि कैसे तीन-चार साल के बच्चे पुस्तकालय में "रीडर कार्ड" मांगने आते थे और जमीन पर बैठकर तस्वीरों वाली किताबें पढ़-पढ़ कर खुश होते थे। ये किताबें उनकी आसानी के लिए एक नीचे के शेल्फ पर रखी गई थीं। मुझे अब भी याद है कि कुछ किशोर लड़के-लड़कियां जो अभी पढ़ने की शुरुआत ही कर रहे थे, वे खंद-ब-खुद अंग्रेजी के शब्द बुदबुदाते रहते थे। हमारे पास बागवानी के व्यावहारिक पहलुओं के बारे में कुछ अंग्रेजी की खूबसूरत चित्र-पुस्तकें भी थीं। बच्चे जमीन पर बैठ कर इन किताबों से एक तरह से कुश्ती लड़ते और यह देखकर काफी सुख मिलता था कि आखिर उन्होंने इन पुस्तकों से कितना कुछ सीख लिया है, न सिर्फ विचारों के स्तर पर, बल्कि उस आत्मविश्वास के मामले में भी जो मुश्किलों पर विजय पाने से मिलता है। शिक्षक प्रशिक्षण कक्षाओं के वयस्क छात्र अब तक केवल ऐसे पुस्तकालय से ही परिचित थे जहां किताबें अलमारियों में बंद रहती हैं। उनके लिए यह पुस्तकालय हैरानी का सबब था क्योंकि यहां वे बेरोकटोक जो चाहे किताब उठा कर पढ़ सकते थे। यह पुस्तकालय उनके लिए एक ऐसा स्थान था जो साझा हित के लिए साझा नियमों के आधार पर चलाया जा रहा था। इस पुस्तकालय में छात्रों की "खोजी भावना" और "आनंद", दोनों के दर्शन होते थे।

1941 का सम्मेलन बेहद जीवंत और उम्मीदों से भरपूर था। इस सम्मेलन ने आने वाले वर्षों के लिए एक ठोस और सतत विकास की मनोवैज्ञानिक तैयारी कर दी थी। लेकिन राजनीतिक उथल-पुथल के कारण तमाम अन्य घटनाएं इस पर भारी पड़ गईं। कोई भी युद्धरत सरकार ऐसे व्यक्तियों या गतिविधियों के बारे में सदा सशंकित रहती है जो एक अलग राह पर चलने की कोशिश करते हैं और सरकार को पारंपरिक ढंग से समर्थन नहीं देते। भारत की तत्कालीन अंग्रेज सरकार की मनोदशा भी ऐसी ही थी। बेसिक शिक्षा आंदोलन के नेता गांधीजी और कांग्रेस से इतने गहरे तौर पर जुड़े हुए कि इस किस्म के संदेह से नहीं बच सकते थे। सम्मेलन के पहले ही उड़ीसा सरकार अपना बेसिक शिक्षा विभाग बंद कर चुकी थी। सरकार को कहना था कि "इसे जारी रखना राज्य के हित में नहीं होगा।" जाहिर है यह शैक्षणिक फैसला नहीं था, यह खालिस राजनीतिक फैसला था। इसके बावजूद उड़ीसा में बेसिक शिक्षा का आंदोलन खत्म नहीं हुआ। बेसिक शिक्षा प्रयोग को जारी रखने के लिए गोपाबंधु चौधरी और उनकी पत्नी रमा देवी की प्रेरणा से एक स्वतंत्र समिति का गठन कर दिया गया।

असली संकट 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन से पैदा हुआ। अब तक वर्धा में चलाया जा रहा शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम अगस्त की शुरुआत में सेवाग्राम में चालू कर दिया गया था। उसी समय वहां आनन्द निकेतन बेसिक आवासीय विद्यालय भी खोला गया ताकि ऐसे राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के बच्चों को वहां रखा जा सके जिनके माता–पिता के ऊपर गिर"तारी की तलवार लटक रही थी। कुछ ही दिनों बाद हिंदुस्तानी तालीमी संघ के 21 में से 15 सदस्यों को गिर"तार कर लिया गया। गिर"तार किए गए लोगों में संस्था के सचिव ई. डब्ल्यू. आर्यनायकन भी शामिल थे। सेवाग्राम का ग्रामीण स्कूल बंद तो नहीं हुआ मगर उसकी परेशानियां लगातार बढ़ती जा रही थीं। उन दिनों इसी स्कूल में पढ़ने वाले आत्माराम बताते हैं कि कैसे वह और अन्य बच्चे वर्धा की जेल में बंद अपने शिक्षकों के पास कपास, तकली और किताबें लेकर पढ़ने जाते थे। सभी एक–दूसरे से कटे हुए थे; देश भर में फैले बेसिक शिक्षा केन्द्र एक–दूसरे से सम्पर्क नहीं रख पा रहे थे। 1941 में जो आत्मविश्वास दिख रहा था उसकी जगह अब अस्तित्व रक्षा के एक निराश और एकाकी संघर्ष ने ले ली थी।

अगले दो साल बड़े अंधकारमय थे मगर जल्दी ही एक नया सवेरा होने वाला था।

5

नई राह : 1944-45

गांधीजी 1942-44 के बीच जेल में थे। इस दौरान उन्होंने स्वास्थ्य और शिक्षा के सवाल पर गहन विचार-विमर्श किया। ग्रामोद्धार के लिए गांधी जी इन दोनों को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उनका मानना था कि इंसान और समाज, दोनों की उन्नति के लिए स्वास्थ्य और शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण हैं। वह इन्हें जमीनी स्तर पर "स्वराज की कुंजी" के रूप में देखते थे। दोनों ही कार्यक्रमों पर एक साथ काम किया गया इसलिए आश्चर्य की बात नहीं है कि इन दोनों में कई समानताएं दिखायी देती हैं। गांधीजी की राय में न तो केवल एक क्लीनिक खोल कर सामुदायिक स्वास्थ्य का लक्ष्य हासिल किया जा सकता है और न ही महज एक स्कूल खोलने से ऐसी सामुदायिक शिक्षा संभव है जो स्वराज की भावना के पोषण-संरक्षण में सक्षम हो।

गांधीजी की दृष्टि में यह विस्तार उनकी नई शब्दावली में साफ दिखायी देता था। इसके बाद वह न सिर्फ पूरे देश के बच्चों के लिए बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा को न्यूनतम आवश्यकता बताते हैं बल्कि नई तालीम यानी नई शिक्षा की भी बात करते हैं। 2 अक्टूबर, 1944 को अपने 75वें जन्मदिवस पर दिए एक महत्वपूर्ण अभिभाषण में उन्होंने इसी मसले को केंद्रीय विषय बनाया था। उन्होंने कहा कि शिक्षा को केवल स्कूलों तक सीमित करना ठीक नहीं है। यह आजीवन चलने वाली चीज है जो "जन्म से लेकर मृत्यु तक" रोजमर्रा जिंदगी के हर पहलू से जुड़ी होनी चाहिए जिससे प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने गांव और क्रमशः देश और विश्व का बेहतर नागरिक बनने का मौका मिले। शिक्षा का उद्देश्य ये होना चाहिए कि व्यक्ति के मानसिक क्षितिज का विस्तार हो; वह अपनत्व की भावना का संचार करे ताकि मनुष्य संकीर्ण मानसिकता और मान्यताओं से ऊपर उठकर अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक विद्वेष और संदेह को त्याग सके।

गांधीजी ने आगे कहा कि जब एक सच्चे मानव समुदाय का उदय होता है तो वह सर्वहित को ध्यान में रख कर कई प्रकार के सहकारी प्रयासों को हाथ में ले सकता है। भूस्वामी और भूमिहीन, शिल्पकार और मजदूर, पुरुष और स्त्री, सभी को अपने अनुभवों से सीखना चाहिए कि मिलजुल कर काम करने का वास्तविक अर्थ क्या होता है। यह काम 100 फीसदी स्वदेशी होना चाहिए; इसमें खेती और अन्य ग्रामोद्योग शामिल होने चाहिए ताकि वह हमें पूर्ण स्वराज की ओर ले जाए। संक्षेप में, उसमें अहिंसक अनुशासन और संगठन को रोजमर्रा जीवन में उतारने की हर संभावना होनी चाहिए।

दरअसल गांधीजी "अहिंसक लोकतंत्र" के सर्वांगीण प्रशिक्षण का आह्वान कर रहे थे और अपनी पहले ही कही जा चुकी बात को और विकसित कर रहे थे : "(शोषण और अन्याय का) असली समाधान अहिंसक लोकतंत्र ही है, जिसे सबके लिए सच्ची शिक्षा भी कहा जाता है।"

अक्टूबर 1944 के बाद के ह"तों में गांधीजी नाना विधियों से नई तालीम की सोच को विकसित करते रहे। उन्होंने कहा था, "शिक्षा का प्रारंभ और अंत, सब कुछ केवल सत्य की खोज है।" जब उनसे पूछा गया कि इस खोज की शुरुआत कहां से होनी चाहिए तो उन्होंने *तैत्रेय उपनिषद* में वर्णित एक दृष्टांत की ओर इशारा किया

जिसमें बताया गया है कि कैसे एक साधक सत्य (यथार्थ, ईश्वर) की खोज में निकलता है और उसे सबसे पहले भोजन में, फिर ज्ञान में और उसके बाद आनन्द में सत्य के दर्शन होते हैं। कहने का मतलब ये है कि सत्य की खोज समग्र मानवीय आवश्यकताओं यानी शरीर, मस्तिष्क और आत्मा की आवश्यकताओं की संतुष्टि में निहित है। गांधीजी कई मौकों पर ये भी कहते थे कि नई तालीम की शुरुआत स्वच्छता से होती है और यहां स्वास्थ्य व शिक्षा के अंतर्संबंध और स्पष्ट हो जाते हैं। स्वच्छता से उनका आशय न केवल शारीरिक स्वच्छता, बल्कि अपने भौतिक वातावरण की स्वच्छता के साथ-साथ शौचालय और पाखाने की स्वच्छता से भी है। आंतरिक स्तर पर इस स्वच्छता का आशय हृदय की स्वच्छता से है जो स्वच्छ वाणी, स्वच्छ विचार और स्वच्छ आकांक्षाओं में अभिव्यक्त होती है।

जनवरी 1945 में हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने देश भर के शिक्षकों को गांधीजी के साथ इन क्रांतिकारी शैक्षणिक विचारों के बारे में चर्चा के लिए इकट्ठा किया। इस सभा में मुझे भी बुलाया गया था। उस सभा में गांधीजी के अभिभाषण के दौरान जैसी शांति थी वह आज भी मेरी स्मृति में जीवित है। उन्होंने कहा था, "अब तक आप सभी शांत जल में थे। अब मैं आपको खुले समुद्र में कूदने के लिए कह रहा हूं। इस समुद्र का विस्तार और गहराइयां असीम हैं। इसमें आपको केवल ग्रामीण हस्कतलाओं की रोशनी में ही अपना रास्ता ढूंढना है।" उन्होंने हमें उत्पादक हस्तकलाओं को पूरी गंभीरता से लेने का अनुरोध किया। एक ऐसे नियोजित और सहकारी काम में हाथ बंटाना अपने आप में एक मुकम्मल शिक्षा है जिसमें प्रत्येक सदस्य सभी के श्रम से लाभान्वित होता। उन्होंने हमें बाजार में बेचने के लिए नहीं बल्कि खुद अपने उपयोग के लिए कताई-बुनाई का काम करने की चुनौती दी। उन्होंने आह्वान किया कि हम स्वस्थ भोजन के लिए जरूरी सारी चीजें अपने गांव में पैदा करें, अपने आसपास मौजूद चीजों से हवादार मकान और सारे औजार बनाएं। उन्हमें कहा कि हमें अपने मवेशियों की देखभाल करनी चाहिए, उनके चारे का इंतजाम करना चाहिए, ईंधन व पीने के पानी समेत अपनी रोजमर्रा की जरूरतों की व्यवस्थ खुद करनी चाहिए क्योंकि इस किस्म की सहकारी आत्मनिर्भरता ही स्वराज का आधार है। गांधीजी ने 20 साल पहले कहा था कि वास्तविक आजादी की कुंजी "सत्ता के दुरुपयोग का विरोध" करने की क्षमता में निहित है; लेकिन विरोध करने की यह क्षमता इस बात से तय होती है कि हमारी आत्मा कितनी स्वतंत्र है। यह स्वतंत्रता हमारी इसी स्वावलंबी उद्यमशीलता से पैदा हो सकती है।

उत्पादन पूंजी बाजार के लिए नहीं बल्कि प्राथमिक रूप से निजी और स्थानीय उपभोग के लिए होना चाहिए - यह सिद्धांत ग्रामीण उत्पादन के बारे में प्रचलित आम मान्यता के खिलाफ है। अब यह बात साफ होती जा रही है कि गांवों की रोजमर्रा जिंदगी के लिए आवश्यक विविध फसलों और खाद्यान्न का उत्पादन बेहतर पोषण और खाद्य सुरक्षा दे सकता है जबकि पूंजी बाजार पर केंद्रित बड़े पैमाने के एकफसली उत्पादन में ऐसा संभव नहीं है। हालांकि गांधीजी ने यह बात राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के सदंर्भ में कही थी लेकिन भारतीय गांवों की सच्ची आजादी के लिए उनके सिद्धांत आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं।

दुख की बात है कि गांधीजी जो नई दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे उस पर खरा उतरने की बात तो दूर रही, हम अध्यापक उनकी बात को पूरी तरह समझ भी नहीं पाए। बेशक, हमने बेसिक स्कूल के दायरे से बाहर निकल कर जीवन के विभिन्न चरणों के लिए कार्यक्रम बनाए थे, हम "प्री-बेसिक" और "पोस्ट-बेसिक" शिक्षा की

बात करने लगे थे मगर हममें से अधिकतर लोग इन सारे कार्यक्रमों की कल्पना संस्थाओं के शांत पानी में कर पाते थे। हमने ग्रामीण जीवन के खुले सागर में गोता लगा कर अपने जीवन को उसकी लहरों के हवाले करने का साहस नहीं दिखाया। हमने ग्रामीण कारीगरी को अपना प्रकाशस्तंभ नहीं बनाया और न ही अपनी मेहनत से कमाए भोजन और कपड़े के मामले में ग्रामीणों की तरह आत्मनिर्भर होने का कोई गंभीर प्रयास किया। इस तरह हम एक मूक सामाजिक क्रांति की संभावनाओं वाली नई तालीम को हकीकत की जमीन पर नहीं उतार पाए।

चूंकि, हमने ग्रामीण कारगरी के काम को संजीदगी से नहीं लिया इसलिए जब व्यवसायीकरण का ज्वार भारत की पारंपरिक कारीगरी की समृद्ध विरासत को लीलने लगा तो हम कुछ नहीं कर पाए। खालिस व्यावसायिक दबावों से जूझते लोग ग्रामीण दस्तकारों द्वारा बनाए गए खूबसूरत और उपयोगी सामान के मुकाबले बड़े उद्योगों के दिखावटी और अकसर अनुपयोगी उत्पादों को तरजीह देने लगे हैं। नतीजा, हमारे कारीगर भुखमरी में जी रहे हैं और हम जिस प्रगति पर इतना गुमान कर रहे हैं, वह दरअसल हमारी विपन्नता को और बढ़ा रही है। यह विपन्नता सिर्फ भौतिक ही नहीं है; यह हमारे मस्तिष्क और आत्मा की विपन्नता भी है, हमारे आत्मविश्वास और स्वाभिमान का लोप है जो आजादी की नींव को दरका रहा है।

हम एक और मामले में विफल हुए हैं। हम गांधीजी के नए विचारों से इतने आकर्षित थे और भले ही हम उन्हें पूरी तरह समझ नहीं पा रहे थे, लेकिन हम यह नहीं बूझ पाए कि खुद बेसिक स्कूलों में भी कितना सारा काम अधूरा रह गया है। ये स्कूल दो साल तक अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते रहे और अपना अस्तित्व बचाने में कामयाब भी रहे। उन्हें हमारे ध्यान और विशेष रखरखाव की जरूरत थी जो मगर हमने उन पर उतना ध्यान नहीं दिया। 1941 के जामिया नगर सम्मेलन में जिन व्यावहारिक कार्यभारों और अनसुलझे मुद्दों की शिनाख्त की गई थी उन पर कभी वैसा काम नहीं किया गया जैसा हमें करना चाहिए था। इससे पांच साल पहले हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने 16 साल तक की उम्र के बच्चों के लिए समग्र ग्रामीण विद्यालय खोलने की जो योजना हमें सुझायी थी उसको पूरी तरह कभी विकसित नहीं किया गया। भले ही यह चीज हमारे विस्तारित कार्यक्रम का केंद्रीय तत्व रही हो मगर अब वह हमारी रुचियों का केंद्र नहीं थी।

6

जीवन के लिए जीवन से गुजरना : वयस्क शिक्षा 1945-47

यदि नई तालीम को इंसान के समूचे विकास और उसके समग्र जीवनकाल को संबोधित करना है तो किसी भी मानवीय सरोकार को उसके दायरे से बाहर नहीं रखा जा सकता। उसमें घर पर रहने वाली मां और शिशु तथा समाज के सभी प्रौढ़ सदस्यों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियों की शिक्षा को शामिल करना अनिवार्य है।

इस रौशनी में सेवाग्राम में भी नई तालीम का सवाल नए सिरे से उठ खड़ा हुआ। गांव के स्कूल में काम कर रही शांता नरूलकर ने जनवरी 1945 में हुए सम्मेलन के फौरन बाद गांधीजी के मार्गदर्शन में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करने के लिए तैयार हो गईं। गांधीजी तुरंत इसके लिए तैयार हो गए और उन्होंने इस विषय में अपने सिद्धांतों का एक स्पष्ट खाका उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने कहा कि कार्यकर्ता को खुद गांव में रहना होगा, उसे बाहर से गांव में काम के लिए आने की जरूरत नहीं है। उसे यह याद रखना होगा कि नई तालीम का आशय शिक्षा से है न कि परोपकार से। लिहाजा, उसे गांव वालों के लिए काम नहीं करना होगा बल्कि उन्हें इस बारे में मदद देनी होगी कि वे खुद अपनी जरूरतों को पहचान सकें और उसे यह दिखाना होगा कि वे अपने प्रयासों से उन्हें कैसे पूरा कर सकते हैं। उसे इस बात का भी खयाल रखना होगा कि नई तालीम पूंजी पर आधारित नहीं है। इसे शुरुआत से ही स्वावलंबन के सिद्धांत पर नियोजित करना होगा और बाहर से कोई आर्थिक सहायता नहीं दी जाएगी। इस प्रयोग में शांता केवल एक ही उपहार दे सकती थीं, खुद अपने आप को। गांधीजी ने कहा था, "उन्हें वे सारी सेवाएं दो जिनकी उन्हें जरूरत है। बीमारी में सेवा-सुश्रुषा करो या कोई और मदद दो लेकिन उन्हें कभी भी पैसे मत देना। प्रौढ़ शिक्षा में पैसे की कोई जरूरत नहीं होती।"

राजनीतिक उथल-पुथल के पिछले वर्षों में गांव के बाहर स्थित गांधीजी के आश्रम का मूल प्रभाव क्षीण पड़ने लगा था। गांधीजी की ही पहल पर बनाई गई ग्राम पंचायत को तत्कालीन सरकार के विरोधस्वरूप 1942 में भंग कर दिया गया था और कानून व्यवस्था के लिए कोई इंतजाम नहीं बचा था। जमींदार सिर्फ लगान वसूल करते थे; उन्हें गांव के कल्याण से जुड़े किसी भी काम से कोई सरोकार नहीं था। कभी-कभी विवादों को निपटारे के लिए आश्रम में भी लाया जाता वरना ये लंबे खिंचते चले जाते और निजी संबंधों में जहर घोलते रहते थे। सामुदायिक भावना और उत्साह के अभाव का सीधा अर्थ यह था कि गांवों की मदद करने के लिए कुछ संस्थानों द्वारा किए जा रहे रचनात्मक काम आम जीवन में बुने हुए नहीं थे बल्कि महज चंद लोगों को लाभ पहुंचा रहे थे। आश्रम में गांधीजी द्वारा शुरू किया गया एक छोटा सा दवाखाना चलता था; सड़क साफ करने के लिए एक *भंगी* को भी रखा गया था। चरखा संघ ने कुछ गांव वालों को वेतनभोगी श्रमिक के तौर पर रखा हुआ था लेकिन वह गांव में खादी से जुड़ा कोई काम खुद नहीं करता था। गजानन नायक ने खजूर-गुड़ का जो उद्योग शुरू किया था उसका संचालन अब गांव वालों की बजाय वर्धा ग्रामोद्योग एसोसिएशन के हाथ में था।

गांव का स्कूल वयस्क शिक्षा का केंद्र हो सकता है ओर होना चाहिए। अपनी तमाम खामियों के बावजूद शांता नरूलकर जिस स्कूल में काम कर रही थीं वही कार्यकर्ताओं और ग्रामीणों के बीच सबसे घनिष्ठ और स्थायी

संपर्क था। 1945 तक वहां पांचवें दर्जे की पढ़ाई शुरू हो चुकी थी। बच्चों को मध्याह्न भोजन दिया जाता था ताकि घर पर मिलने वाले अपर्याप्त भोजन की भरपाई हो सके। गांव के तकरीबन हर घर के बच्चे स्कूल में पढ़ रहे थे इसलिए शांता उनके माता–पिता और उनकी समस्याओं से बखूबी वाकिफ थीं।

फरवरी में संपर्क का एक और सूत्र जुड़ गया जब आश्रम ने गांव में बाल कल्याण केंद्र की स्थापना की जो दरअसल दवाखाने का ही विस्तार था। क्वेकर पंथ की अनुयायी अंग्रेज नर्स बारबरा हार्टलैंड ने इस केंद्र की कमान अपने हाथों में ली। गांधीजी के साथियों में उन्हें वसंती बहन के नाम से जाना जाता था। गांव के स्कूल के हेडमास्टर की पांचवें दर्जे तक पढ़ी पत्नी उनकी सहायक थी। बारबरा ने उन्हें रोजमर्रा जरूरतों के हिसाब से आवश्यक कौशल का प्रशिक्षण दे दिया थ। शुरुआत में इस केंद्र का खर्च आश्रम ने ही उठाया जोकि गांधीजी के इस सिद्धांत के विपरीत था कि प्रौढ़ शिक्षा के लिए पैसे की जरूरत नहीं होती। परंतु वास्तव में इस केंद्र की स्थापना शिक्षा के उद्देश्य से नहीं बल्कि एक सेवा केंद्र के रूप में की गई थी। बाद में इसे ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा के लिए शांता की योजना में शामिल कर लिया गया और उसने विवेकवान अभिभावकत्व कार्यक्रम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

मार्च तक शांता भी गांव की हरिजन बस्ती में घर बना कर रहने लगी थीं। यहां उन्होंने हरेक घर की स्थिति, निर्माण, भोजन, रोजमर्रा जीवन के विवरण आदि का विस्तृत सर्वेक्षण करना शुरू कर दिया। कुएं काफी गंदे थे और कायदे से उनकी देखभाल नहीं की जाती थी। इसके बावजूद लोग इन्हीं कुओं का पानी पीते थे। घर आरामदेह नहीं थे और उनमें रहने वाले ज्यादा थे। राशन के अनाज की व्यवस्था तब थी लेकिन वितरण प्रणाली बहुत खस्ता थी जिससे लोगों को काफी दिक्कत आती और उनका वक्त बरबाद होता था। इन तमाम चीजों में सुधार की दरकार थी लेकिन ऐसा तभी हो सकता था जब लोग सामूहिक हित में सोचते और अपनी ताकत में आत्मविश्वास पैदा करते। जब शांता ने काम शुरू किया तो लोगों में ऐसे गुणों का अभाव था।

पीने का साफ पानी सबसे जरूरी चीज थी। सेवाग्राम में पानी की दिक्कत नहीं थी। कई घरों में निजी कुएं थे। कुछ साल पहले आश्रम ने हरिजन बस्ती में गांव के इस्तेमाल के लिए एक कुआं खुदवाया था लेकिन चाहे वे सार्वजनिक हों या निजी, सभी कुएं रखरखाव के अभाव में गंदे पड़े हुए थे जहां मच्छर पनपते थे और संक्रमण फैलने का खतरा था। शांता पानी की समस्या के बारे में लोगों से बात करने लगीं। धीरे–धीरे पूरे गांव के सामने उन्होंने अपनी यह चिंता व्यक्त कर दी। आखिरकार, ये तय हुआ कि गांव के पैसे से ही सार्वजनिक कुएं की सफाई और मरम्मत की जाए। कुछ लोगों ने पैसे दिए तो कुछ ने श्रम दिया। आश्रम और स्थानीय जमींदार ने भी अपना योगदान दिया। गर्मी की शुरुआत तक कुआं साफ हो चुका था। लोगों ने खुद उसमें से निकली गाद को सूंघ कर जाना कि अब तक वे कितना गंदा पानी पी रहे थे। अब उन्हें किसी शिक्षा की जरूरत नहीं थी। उस साल गर्मियों के खत्म होने तक गांव के तकरीबन सभी कुओं को लोगों के परस्पर सहयोग से साफ कर दिया गया था। लोगों की दिलचस्पी बढ़ती गई और कुछ समय बाद उन्होंने गंदे पानी की निकासी के लिए नालियां भी बनवा दीं। अगली गर्मियों में एक बार फिर यही प्रक्रिया दुहराई गई। कुओं को दोबारा साफ किया गया और लोगों में परस्पर सहयोग की परंपरा विकसित होने लगी। जब लोग इस तरीके से काम करते हैं तो पैसे का सवाल नहीं उठता, जाति के बंधन टूटने लगते हैं और स्वाभाविक नेतृत्व सामने आने लगता है। जैसे–जैसे समय बीतता गया,

शांता इन स्वाभाविक नेताओं को एकजुट करने और उन्हें साझा सरोकार के लिए मिल कर काम करने को प्रेरित करने में सफल रहीं।

बेहतर आवास की दिशा में पहला कदम तब उठाया गया जब विभिन्न परिवार अपने मकानों की मरम्मत या पुनर्निर्माण करने लगे। शांता ने पाया कि जब लोग मकानों पर अपना पैसा और मेहनत खर्च कर चुके तो भी उनके मकानों की हालत में खास फर्क नहीं आया था। वह मकानों के निर्माण के समय लोगों को सलाह देती थीं कि वे मकान में एक खिड़की लगवा लें या मवेशियों के लिए अलग तबेला क्यों नहीं बनवा लेते? वह गांव वालों के आत्मसम्मान और स्वाभिमान पर भी चोट करतीं। वह पूछतीं, "तुम अपनी चौखट जरा ऊंची क्यों नहीं बना लेते?" या फिर यह, "तुम्हें अपने घर में घुसने के लिए सदा झुकने की जरूरत क्यों पड़ती है?" वह पूछतीं, "घर की औरतों को हर मौसम में बाहर मैदान ही क्यों जाना पड़ता है? उनके लिए अपनी जमीन के ही एक कोने में निजी शौचालय क्यों नहीं बनवाते? जहां आप सब्जियां उगाने की सोच रहे हैं वहां कितनी खुली जगह है – वहां तो दोनों काम किए जा सकते हैं।" धीरे-धीरे ही सही कुछ सुधार तो हुए और आखिरकार एक सहकारी आवासीय सोसायटी का गठन भी कर लिया गया। इस सोसायटी ने गांव में जमीन का एक छोटा सा हिस्सा लेकर वहां श्रमिकों के परिवारों के लिए मकान बनाने शुरू कर दिए। मकानों के संभावित व्यय और हर छोटी-बड़ी चीज के बारे में मकानदारों से पहले ही बात कर ली गई थी और सभी परिवारों ने इसके निर्माण में अपना हाथ बंटाया। लोगों ने एक-दूसरे के मकान के लिए अपनी बैलगाड़ियां भी निशुल्क दे दीं। इस तरह न सिर्फ लोगों को मकान बनाने का तरीका आया, बल्कि वे यह भी जान सके कि कम से कम खर्चे में मकान कैसे बनाया जा सकता है। इस सहकारी सोसायटी में जिन परिवारों के मकान थे, उन्हें सोसायटी के नियम मानने पड़ते थे। उन्होंने यहां बेहतर और स्वच्छ जीवन जीना सीख लिया था।

घरों के भीतर शौचालय की समस्या पर हम पहले ही बात कर चुके हैं लेकिन इस दिशा में अभी और काम की जरूरत थी। गांव के लोग मल-मूत्र त्यागने के लिए प्रायः मेढ़ों और पगडंडियों के किनारे ही बैठ जाते थे जिसके कारण गांव में प्रवेश का रास्ता सदा गंदा और बदबूदार रहता था। यही वजह थी कि आश्रम में एक भंगी को काम पर रखा गया था। भंगी अपने काम और हालात से काफी खिन्न रहता था। उसकी शिकायत थी कि उस पर काम का बोझ बहुत ज्यादा है। यह देख कर शांता ने उसे सलाह दी कि अगर वह गांव के मुहानों पर गडढ्ा (ट्रेंच) शौचालय बना दे और लोग उनका इस्तेमाल करने लगें तो उसका काम काफी आसान हो जाएगा। बड़ी अनिच्छा से उसने शांता की बात मान ली। इसके बाद तो उसने और शांता ने मिल कर जल्दी ही गांव के मुहाने पर गड्ढे खोद कर शौचालय बना दिए। आड़ के लिए उन्हें ताड़ के पत्तों से घेर दिया गया। एक सोखता गड्ढे में पांच शौचालय बनाए गए। ऐसे चार शौचालयों और उनमें बैठने के लिए इस्तेमाल किए गए ताड़ के तनों सहित कुल 12 रुपए का खर्चा आया। धीरे-धीरे लोग उनका इस्तेमाल करने लगे। शांता के निर्देशन में लोगों ने जाना कि सड़क किनारे की खरपतवार और सड़े-गले पत्तों से मल को ढंक कर किस तरह दुर्गंध को भी खत्म किया जा सकता है। अब सड़कें काफी साफ रहने लगी थीं परंतु भंगी उनका साथ छोड़ कर चला गया था। शांता को इस बात से काफी तसल्ली हुई क्योंकि यह काफी अपमानजनक बात थी कि कोई समुदाय किसी पर आश्रित रहे। आत्मसम्मान के लिए ये जरूरी है कि सभी लोग मिल-जुल कर मैले को ठिकाने लगाएं।

सार्वजनिक साफ-सफाई के काम में नालियों की समस्या और घरों से निकलने वाले गंदे पानी का निपटारा भी शामिल होना था। इस इलाके की मिट्टी कपास उगाने योग्य काली मिट्टी है जिसके कारण बरसात के मौसम में यहां जल निकासी मुश्किल हो जाती है और मलेरिया जैसे रोग आम हो जाते हैं। इसका समाधान यह था कि हर घर में एक सोख्ता गड्ढा हो। शांता ने इसके लिए स्थानीय नेताओं के समूह को बुलाकर यह बात समझाई और दिखाया कि कैसे एक सोख्ता गड्ढा सस्ते में आसानी से बनाया जा सकता है। इन नेताओं ने गांव के दूसरे नेताओं से बात की और अगले ही दिन करीब 50 परिवारों ने अपने घरों में सोख्ता गड्ढे खोद डाले। यह स्वच्छ जीवन का एक व्यावहारिक सबक था। कुंओं की ही तरह इन गड्ढों को भी हर साल जांचा जाने लगा और जरूरत पड़ने पर दोबारा खोदा गया।

इन तमाम प्रक्रियाओं में जो स्वाभाविक तौर पर नेता और प्रभावशाली लोग समुदाय में पैदा हुए उन्होंने धीरे-धीरे गांव में एक कार्यकारी समिति जैसी चीज विकसित कर ली। शांता उनके साथ समय बिताती थी और उनकी सामुदायिक आवश्यकताओं पर चर्चा करती थी। वह कहती, "यदि तुम्हें कुछ चाहिए, तो तुम्हें चीजों को सही ढंग से निपटा कर उसे पाने की जिम्मेदारी अपने हाथ में लेनी होगी। मैं तुम्हारी मदद करूंगी, मैं तुम्हें सिखाऊंगी कि चीजों को कैसे किया जाए जहां तक संभव होगा, लेकिन पहल तो तुम्हें ही करनी होगी। मैं तब तक कुछ नहीं करूंगी जब तक तुम मुझे बुलाओगे नहीं, और काम करना नहीं शुरू करोगे।"

इस कार्यकारी समिति ने पहला सबसे बड़ा काम जो अपने हाथ में लिया, वह राशन के अनाज का वितरण था। 12 गांव ऐसे थे जिन्हें एक गांव की एक ही दुकान से राशन लेना होता था और बरसात में एक गांव से दूसरे गांव तक जाने का रास्ता चलने लायक नहीं रह जाता था। लोगों को उस दुकान तक जाने के लिए पूरे दिन की दिहाड़ी छोड़नी पड़ती और यदि राशन कार्ड को लेकर कोई भूल-चूक हो गई, तो उन्हें खाली हाथ भी लौटना पड़ जाता था। इसके अलावा जिस गांव में वह दुकान थी वहां हैजा फैल गया। ऐसी संकट की घड़ी में सेवाग्राम ने एक बैठक बुलाई और उपभोक्ताओं के लिए सहकारी स्टोर बनाने का तय किया। लोगों से पैसे इकट्ठे किए गए जितनी उनकी क्षमता थी, लेकिन कुल जमा पूंजी बहुत कम थी और पहली खेप खरीदने के लिए लोन लेने की जरूरत पड़ गई। यह दुकान 1945 में चरखा जयंती को खोली गई और कार्यकारी समिति ने इसके प्रबंधन का काम अपने हाथ में ले लिया। दो महीने तक दो लोगों को एक साथ काम करने के लिए इस दुकान पर बैठाया जाता। उनका काम शुरुआती लोन को तुरंत लौटाने के बाद बहीखाता बनाना, कार्ड का हिसाब रखना, अनाज की खरीद और वितरण करना था। ये सारे काम स्वैच्छिक और अवैतिक थे। शुरुआती छह महीने के बाद हिसाब में 60 रुपए का नुकसान दिखाया गया जिसे कार्यकारी समिति के दस सदस्यों ने अपनी-अपनी जेब से भरा। इसके बाद से यह दुकान फायदे में आ गई, जबकि नियम के मुताबिक यह गांव के कल्याण के लिए बनाई गई थी। इसे जो भी फायदा हुआ, वह इसके शेयरधारकों में नहीं बांटा गया। इस पहले सहकारी उद्यम की सफलता ने अन्य सहकारी उद्यमों के विकास के लिए बाद में मानक स्थापित किए।

इन्हीं में से एक था सहकारी अनाज बैंक, जिसके मुनाफे को किसानों के फायदे के लिए इस्तेमाल किया गया। इसका मनोवैज्ञानिक असर बहुत ज्यादा हुआ और गांव वालों को यह महसूस हुआ कि वे गरीब और असहाय नहीं, बल्कि समृद्ध और स्वतंत्र हैं। इससे उनके भीतर स्वावलंबन और आत्मसम्मान बढ़ा।

भोजन और पानी, आवास, स्वच्छता आदि सभी प्राथमिक आवश्यकताएं इसी तरीके से प्रौढ़ शिक्षा का एक माध्यम बन गई। अब जरूरत थी कपड़ों की, और शांता ने काफी पहले इस बारे में कुछ काम किया था। गांव में प्राथमिक स्कूलों के माध्यम से कताई-बुनाई को लाया जा चुका था। चरखा संघ की मदद से अब गांव में तीन हथकरघे लगाए गए और गांव के लड़के उन पर अप्रैंटिस की तरह काम करने लगे। पहले साल में 1750 वर्ग गज कपड़ा बनाया गया और बेचा गया। बाद में हथकरघों और बुनकरों की संख्या बढ़ती गई तथा दूसरे किस्म के ग्रामोद्योग भी प्रौढ़ शिक्षा के केन्द्रों के रूप में विकसित किए जाने लगे।

गांधीजी ने प्रौढ़ शिक्षा समिति से सितम्बर 1945 में कहा था, "जीवन के लिए शिक्षा का अर्थ समूचे जीवन काल के दौरान शिक्षा नहीं है, बल्कि जीवन मात्र के लिए दी जाने वाली शिक्षा हैख़ प्रौढ़ शिक्षा दरअसल जीने की कला का शिक्षण है। एक ऐसा व्यक्ति जो जीने की कला पर माहिर हासिल कर लेता है, वह पूर्ण मनुष्य बन जाता है। अपने सामने इसी दृष्टि को रख कर चलो और अपने काम को नई तालीम के आदर्श से प्रेरित होने दो।"

7

प्री-बेसिक शिक्षा : बच्चे के हाथ में कमान

गांधीजी को छोटे बच्चों के बीच काफी खुशी मिलती थी। जब वह लंदन में थे, तो 1931 में आईलिंग्टन में गरीब बच्चों के लिए चलाए जाने वाले मॉन्टेसरी स्कूल का उन्होंने दौरा किया था। भारत में भी मैडम मॉन्टेसरी के शिक्षण के तरीकों में लोगों ने काफी दिलचस्पी ली, लेकिन यहां जो मॉन्टेसरी स्कूल खोले गए वे मुख्यतः शहर में थे और उनमें इस बात पर जोर था कि वहां हूबहू वही सारे उपकरण लगाए जाएं जैसे यूरोपीय स्कूलों में लगाए जाते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि ये स्कूल सिर्फ अमीरों के लिए बनकर रह गए। इसी तरह ब्रिटेन में गरीबों के लिए शुरू किए जाने वाले "नर्सरी स्कूलों" का भी हश्र हुआ जो आखिरकार भारत में अभिजात्य तबके के होकर रह गए। हालांकि, मद्रास में 1935 के बाद एक कामयाब प्रयास किया गया था जिसमें नर्सरी के शिक्षकों को भारतीय परिस्थितियों और उपकरणों के सहारे पढ़ाने का प्रशिक्षण दिया गया। शांता नरूलकर खुद एक योग्य शिक्षिका थीं और इन तमाम प्रयोगों से वाकिफ थीं। उन्होंने अपना काफी समय महिलाओं और बच्चों की शिक्षा में गुजारा था। उनके प्री-बेसिक स्कूल में शिक्षा क्षेत्र के अग्रणी विचारकों फ्रोएबेल, मॉन्टेसरी, राशेल मैकमिलन आदि के रचनात्मक विचारों का समावेश किया गया था और उन्हें एक भारतीय गांव के संदर्भ में लागू करने की कोशिश की गई थी।

बहुत शुरुआत में ही यह बात मान ली गई थी कि जीने की कला में महारथ हासिल करने का एक महत्वपूर्ण अंग समझदार अभिभावकत्व है, जो पुरुषों और महिलाओं सभी के लिए प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य है। सभी अभिभावक अपने आप में शिक्षक होते हैं, भले ही वे इस बात को महसूस कर पाएं अथवा नहीं। बच्चों के चौतरफा विकास के लिए तमाम जरूरतों को पूरा करना उन्हीं का काम है; उनकी रोजमर्रा की जरूरतें, उनका शारीरिक स्वास्थ्य, उनका बौद्धिक और नैतिक विकास आदि। यदि माता-पिता बच्चों के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझ पाने में नाकाम रहते हैं, तो स्कूलों में किए गए तमाम प्रयास पूरी तरह विफल हो जाएंगे। आखिरकार, शिक्षक चाहे कितना भी समर्पित क्यों न हो, माता-पिता का स्थान नहीं ले सकता। यह बात खासकर बचपन के शुरुआती दिनों के लिए बेहद महत्वपूर्ण है।

अधिकतर माता-पिता अपने बच्चों को प्यार करते हैं और स्वाभाविक तौर पर उनके लिए सबसे अच्छा करना चाहते हैं। यह स्वाभाविक लगाव अनिवार्य है। बाहर की स्थितियां चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हों, वे किसी बच्चे को दिए जाने वाले प्रेम और उसके अहसास की भरपाई नहीं कर सकतीं। इसके बावजूद प्राकृतिक लगाव ही अपने आप में पर्याप्त नहीं होता। तमाम माता-पिता चाहे वे अमीर हों या गरीब, बहुत कम ही समझ पाते हैं कि उनके बच्चे की वास्तविक जरूरतें क्या हैं। जहां तक भावनात्मक और बौद्धिक आवश्यकताओं की बात है, माता-पिता इस बात को महसूस ही नहीं कर पाते कि कोई बच्चा इसकी भी जरूरत महसूस कर सकता है। अक्सर माता-पिता चौतरफा शिक्षा देने की जिम्मेदारी का अहसास नहीं करते जिससे कि बच्चे की समग्र आवश्यकताओं के प्रति न्याय बरता जा सके।

इसीलिए बच्चे की शिक्षा की दिशा में माता-पिता की शिक्षा पहला कदम होना चाहिए। किसी बच्चे के अनुभव और दुनिया भर की अंकित पहली छवियां दरअसल दोनों अभिभावकों के रवैए से ही गढ़ी जाती हैं। सुख और दुख के पहले अनुभव के लिए एक शिशु अपनी मां पर ही निर्भर होता है; मां की सेहत यह तय करती है कि बच्चे का पेट भरा या नहीं; मातृत्व का ज्ञान या अज्ञान यह तय करता है कि बच्चे को स्वच्छ वातावरण में शारीरिक राहत मिल रही है या नहीं। माता और पिता दोनों ही घर के वातावरण के लिए जिम्मेदार होते हैं जहां बच्चा बड़ा होता है और अपने पहले सामाजिक सम्पर्क बनाता है।

सेगांव नाम के एक गांव के बच्चे निजी स्वच्छता और पोषण के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे क्योंकि उन्हें इस बारे में पढ़ाने की बात किसी के दिमाग में ही नहीं आई थी। किसी ने यह नहीं सोचा कि उन्हें अच्छी आदतें सिखाई जाएं क्योंकि वयस्कों को ही नहीं पता था कि अच्छी आदतें और अच्छा आचरण क्या होता है। वे कभी खुद से यह नहीं पूछ सके कि उनके बच्चे कैसे बड़े हो रहे हैं; न तो माता-पिता और न ही ग्राम समुदाय इस बात की जिम्मेदारी लेने को तैयार था कि वह अपने बच्चों को एक अच्छा नागरिक बनाएगा। इसके बावजूद सभी वयस्क अपने बच्चों के वर्तमान और भविष्य को लेकर तो चिंतित रहते ही हैं; यह एक प्राकृतिक-सामाजिक दायित्व है जिसे हर किसी को स्वीकार करना चाहिए।

यह दायित्व तब तक पूरा नहीं किया जा सकता, जब तक माता-पिता में से कोई भी एक स्वास्थ्य और स्वच्छता की बुनियादी जरूरतों के प्रति अनभिज्ञ हैं। एक परिवार की केन्द्रीय आर्थिक धुरी होने के नाते हर पिता की जिम्मेदारी यह बनती है कि वह घर की जरूरतों में साफ पानी, पोषक भोजन और स्वच्छ वातावरण को प्राथमिकता दे। जो बच्चे साफ-सुथरे होते हैं और नियमित भोजन व नींद लेते हैं, वे स्वस्थ और संतुष्ट होते हैं। इन तमाम चीजों को करने के तरीके सिखाना प्रौढ़ शिक्षा का ही हिस्सा है।

समझदार अभिभावकत्व की शिक्षा का एक अन्य पहलू माता-पिता को यह अहसास कराना है कि उनका अपना चरित्र, आदतें और व्यवहार बच्चों पर किस तरह असर डालते हैं। एक बच्चे के शुरुआती जीवन की तकरीबन सभी छवियां अपने माता-पिता और घर के बड़ों से ही बनती हैं। रोजाना के छिटपुट झगड़े और विवाद बच्चे में सुरक्षा की भावना को नष्ट कर देते हैं और उसे काफी नुकसान पहुंचाते हैं। एक खुश और संतुष्ट बच्चा हमेशा अपने वातावरण की खोज करने और नए प्रयोग करने का उत्सुक रहता है। उसे आजादी और सक्रियता चाहिए। एक बच्चे का प्राकृतिक विकास अनावश्यक प्रतिबंधों, बिना मतलब की दखलंदाजी आदि से अवरुद्ध हो सकता है। घर में अच्छे सम्बन्धों के दायरे को विस्तार देते हुए पड़ोस और बच्चों के स्कूल को भी उसमें शामिल किया जाना चाहिए। इससे बच्चे की प्रेम और सुरक्षा सम्बन्धी जरूरतें पूरी हो जाती हैं और जीने-खाने का धंधा एक सुखद अनुभव में तब्दील हो जाता है।

एक प्री-बेसिक स्कूल का काम दरअसल इन सभी पहलुओं के मामले में बच्चों के जीवन में सर्वश्रेष्ठ मानक स्थापित करना है और इन मानकों के बारे में समूचे गांव की आंखें खोलनी हैं। सेगांव में स्थित स्कूल में बच्चों और माता-पिता को साफ पानी मिलता है और सादा-स्वस्थ भोजन मिलता है जो घर में मिले अपर्याप्त पोषण की भरपाई करता हैं। यहां पढ़ाने वाले अध्यापक मांओं और दादियों को दिखाते थे कि कैसे वे भी सस्ते में बच्चों के लिए भोजन को बेहतर बना सकती हैं। कई बच्चे ऐसे होते थे जो साफ-सुथरे कपड़ों में तो स्कूल आते, लेकिन

उनके बालों में जुंए पड़ी होतीं, तब शिक्षक उनकी मांओं को जुंओं से मुक्ति पाने के तरीके बतातीं। इसके बाद मांओं को यह महसूस करने में समय नहीं लगता कि वे भी खुद अपने बालों से जुंए निकाल सकती हैं और साफ कपड़े पहन सकती हैं। जो बच्चे स्कूल में एक शौचालय में शौच करना सीख गए थे, वे सड़कों पर शौच करने से इनकार करने लगे और अपने घरों पर शौचालय की मांग करने लगे। स्कूलों में बच्चे गीत गाते, खेलते और कहानियां सुनते-सुनाते; स्कूलों में हर किस्म की अनुपयोगी चीजों से बने खिलौने थे जिनसे बच्चे अपने शारीरिक और मानसिक दोनों ही किस्म के कौशल को सुधारने में सक्षम हो गए थे। स्कूलों में तमाम बच्चों के लिए अतिरिक्त नींद लेने का एक अवसर मौजूद था जिसकी शायद कई को जरूरत थी।

ये सभी चीजें सेगांव के प्री-बेसिक स्कूल का हिस्सा थीं, साथ ही ग्रामीण जीवन का भी अभिन्न अंग बन चुकी थीं। इस किस्म के मित्रवत और सहयोगात्मक माहौल में अच्छी चीजें स्वाभाविक तौर पर अपने आप एक से दूसरे व्यक्ति में संचारित हो जाती हैं। यहां बच्चों का शिक्षण और प्रौढ़ शिक्षा एक-दूसरे के समानान्तर चल रहे थे। दरअसल, होना भी ऐसा ही चाहिए। यदि किसी भी कारण से यह परस्पर समझदारी और मित्रता गैर-मौजूद रहती है, तो इसके नतीजे बच्चों के लिए बुरे होंगे। इसका अर्थ यह होगा कि दो विरोधी किस्म के प्रभाव अपने वर्चस्व के लिए संघर्ष कर रहे होंगे। बच्चे को अपनी ओर खींचने के लिए एक ओर घर होगा, तो दूसरी ओर स्कूल। ऐसी स्थिति में बच्चे भावनात्मक तनाव में आ जाएंगे जिसका सीधा असर समाज के एक सदस्य के रूप में उनके भविष्य के विकास पर होगा। जाहिर है, अच्छे नागरिक गृहयुद्ध में पैदा नहीं होते। स्कूलों और घरों को एक-दूसरे के साथ एक समझौता करना चाहिए कि आखिर वे अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए चाहते क्या हैं।

इस संदर्भ में सेवाग्राम का वह अग्रणी प्री-बेसिक स्कूल आज भी उदाहरण बना हुआ है। कालान्तर में समूचे भारत में लगाए जाने वाले सैंकड़ों बालवाड़ियों के लिए यही स्कूल मॉडल बना।

8

प्राथमिक शिक्षा के पार : 1947-50

बुनियादी हासिल कर लेने के बाद की विषय-वस्तु पर यानी पोस्ट-बेसिक शिक्षा के स्वरूप पर 1945 के सम्मेलन में गांधीजी के साथ परिचर्चा की गई थी। इसी के समानान्तर प्रौढ़ शिक्षा और प्री-बेसिक शिक्षा पर भी बात हुई थी। उस वक्त तक बुनियादी स्कूलों ने खुद ही 7-8 साल का एक समग्र पाठ्यक्रम तैयार नहीं किया था, लेकिन यह महसूस किया गया कि अगले चरण के लिए कुछ योजना पहले से तैयार कर लेनी चाहिए। इस काम के लिए हिंदुस्तानी तालीमी संघ की एक उपसमिति को तैनात कर दिया गया।

1945 के सम्मेलन में एक बार फिर से अंग्रेजी के सवाल ने सिर उठाया। सवाल यह था कि यदि छात्रों को मैट्रिकुलेशन के बाद आधुनिक और उच्च शिक्षा लेनी हो, तो क्या उन्हें अपने बुनियादी पाठ्यक्रम के दूसरे हिस्से से ही अंग्रेजी पढ़नी नहीं शुरू कर देनी चाहिए? गांधीजी ने इस सवाल पर 7 साल पहले ही काफी दृढ़ता से अपना मत रखा था। वर्धा में 1937 में हुए सम्मेलन के ठीक बाद पैदा हुए विवादों के दौरान की यह बात है। उन्होंने यह घोषणा की थी कि यह सोचना भयंकर अंधविश्वास होगा कि कोई भी व्यक्ति बगैर अंग्रेजी के पहले दर्जे का वैज्ञानिक या शोध कार्य नहीं कर सकता। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी की शिक्षा ने देश को काफी नुकसान पहुंचाया है और इसने उनके कुछ बेहद मूल्यवान साथियों को "अपने ही घर में अजनबी" बना दिया है। उन्होंने लिखा, "हमें और हमारे बच्चों को अपनी विरासत पर खड़ा होना चाहिए। हमें हरेक संस्कृति और भाषा की सम्पदा का आनन्द अपनी ही स्थानीय भाषा में उठाना चाहिएख़्रसिर्फ तभी दुनिया में पैदा विज्ञान और साहित्य के खजाने जनता की सम्पत्ति बन सकेंगे। हमारे यहां गहरे पैठे इस शैतान को भगाने के लिए हमें एक नायकीय उपचार की जरूरत है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उच्च शिक्षा अपनी ही मातृभाषा में दी जाए और अंग्रेजी पर कहीं कोई निर्भरता न रहे।

जहां तक मुझे याद है, 1945 की परिचर्चा में मेरा योगदान सिर्फ इतना था कि मैंने अपने छोटे से अनुभव के आधार पर अनुरोध किया था कि व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि जब अपनी भाषा में सामान्य ज्ञान और शिक्षा की नींव वास्तव में पड़ चुकी हो, तो जिन्हें अंग्रेजी की जरूरत है वे बाद में उसे ज्यादा तेजी और क्षमता के साथ सीख सकते हैं बजाय इसके कि वे मौजूदा तंत्र में दोनों भाषाएं एक साथ सीखें। हमने पहले ही बताया है कि किस तरह सेवाग्राम के पुस्तकालय में पोस्ट-बेसिक के छात्र अंग्रेजी की किताबों को पढ़कल उनका फायदा उठाने लगे थे। तालीमी संघ की उपसमिति द्वारा अगले कुछ महीनों में तैयार किया गया एक मेमोरेंडम था जिसमें पोस्ट-बेसिक शिक्षा को लेकर कुछ बातें कही गई थीं। उस मेमोरेंडम से साफ था कि वे लोग पोस्ट-बेसिक शिक्षा को दरअसल विश्वविद्यालय स्तर पर दी जाने वाली मैट्रिकुलेशन के बाद की शिक्षा के रूप में ले रहे थे। इस मेमोरेंडम में कुछ संभावित क्षेत्रों की सूची दी गई है जिनमें कुछ ऐसे भी हैं जो अपने आप में उत्पादक क्षेत्र नहीं, मसलन चिकित्सा, अध्यापन और ललित कलाएं। उन्होंने पूछा कि आखिर गांधीजी इस बारे में क्या सोचते

हैं? गांधीजी का जवाब था कि ललित कलाओं को तो हरेक व्यक्ति के जीवन का हिस्सा होना चाहिए, जैसा कि 1947 के सम्मेलन में तय किया गया था। उसे एक अलग पेशे के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। उनका कहना था कि कि इस मामले में खुद के पैरों पर खड़ा होना ही कसौटी होनी चाहिए। 1938 में उन्होंने कहा कि वह बुनियादी शिक्षा यानी बेसिक एजूकेशन के मामले में "जहां तक संभव हो सके" की मान्यता पर सहमत हो गए हैं। हालांकि अब वह अपने सिद्धांत को लेकर और ज्यादा कट्टर हो गए थे, कि "आत्मनिर्भरता ही आजादी का प्रतीक है।"

1947 तक कोई पोस्ट–बेसिक स्कूल नहीं खोला जा सका था। पहला पोस्ट–बेसिक स्कूल सेवाग्राम में नहीं, बिहार में खोला गया। वहां की प्रांतीय सरकार ने शैक्षणिक प्रयोग के तौर पर बुनियादी स्कूलों को मान्यता दे दी थी और कांग्रेस की चुनी हुई सरकार के इस्तीफा दे देने के बावजूद यह प्रयोग वहां चलता रहा और स्थायी कर्मचारी व अधिकारी अपने–अपने स्थानों पर बने रहे। ये अध्यापक सरकारी कर्मचारी थे और स्कूलों का काम 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन से प्रभावित नहीं हुआ था। इसलिए 1946 के अंत तक 8 साल का एक बुनियादी पाठ्यक्रम चम्पारन जिले के 27 बुनियादी स्कूलों में पूरा कर लिया गया और जनवरी 1947 में कमरबाग में पहला पोस्ट–बेसिक स्कूल खोला गया। इस संस्थान ने 4 साल का पाठ्यक्रम तैयार किया। इसकी शुरुआत के 2 साल बाद 12 और पोस्ट–बेसिक स्कूल बिहार सरकार ने खोले। इसके बाद 1949–50 में ऐसे स्कूल गुजरात और अन्य जगहों पर खोले गए। अखिल भारतीय नई तालीम सम्मेलन के सातवें आयोजन में 1951 तक इनमें से कुछ स्कूलों ने तो 4 साल का अनुभव बटोर लिया था। इसी वजह से सम्मेलन ने अपना काफी समय इस कार्यक्रम पर चर्चा को दिया।

सिर्फ सेवाग्राम में ही इस दिशा में शुरुआती काम मार्च 1947 में नौ लड़कों को साथ लेकर आरंभ हुआ जिनमें से आठ आनंदनिकेतन आवासीय विद्यालय में रह चुके थे। जुलाई में बुनियादी स्कूल के छह और लड़के तथा चार नए प्रशिक्षु आए। आरंभ में इस समूह को एक स्वतंत्र समुदाय के रूप में संगठित किया गया और उन्हें अपनी रसोई दी गई। इस छोटी सी इकाई में रोजाना की गतिविधियों का आसानी से प्रबंधन हो सकता था और लड़के यहां अपना अधिकतम समय काम और पढ़ाई में दे पाने में सक्षम थे। उनके पास जमीन नहीं थी, इसलिए वे अपना पेट पालने के लिीए चरखा संघ के लिए बुनाई करते थे। पहले महीने वे इस काम में रोजाना छह घंटे बिताते थे औश्र अपनी आय का रिकॉर्ड रखते थे। इससे पता चलता था कि उन्हें खुद को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए बहुत ज्यादा समय इस काम को नहीं देना होता था। इसीलिए दूसरे महीने मेंउन्होंने कताई के घंटों को कम कर दिया और बचे हुए समय को अपनी पढ़ाई में लगाया।

उनकी पढ़ाई छह गांवों में इकट्ठा किए उनके अनुभवों पर आधारित थी। अक्टूबर 1947 में जब बारिश का मौसम समाप्त हुआ, तो यहां मलेरिया फैल गया। मलेरिया नियंत्रण के कार्यक्रम में पोस्ट–बेसिक के लड़कों ने जन स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों को पूरा सहयारेग दिया औश्र छह गांवों में उन्होंने बड़े पैमाने पर डीडीटी के छिड़काव का काम किया (उस वक्त तक डीडीटी के नुकसान के बारे में जन स्वास्थ्य विभाग को जानकारी नहीं हुआ करती थी, वह तो तीन साल बाद इसके खतरे सुनाई देने लगे)। उस वक्त स्वास्थ्य और "वैज्ञानिक स्वच्छता" के कामों में इन लड़कों की दिलचस्पी को देखते हुए इस विषय को कस्तूरबा अस्पताल के साथ

गठजोड़ में एक पेशे के रूप में विकसित करने का फैसला लिया गया, जो तब तक आश्रम के पुराने दवाखाने के काम को विस्तार दे रहा था।

जिन लड़कों के घर सेगांव में ही थे, उन्होंने प्रौढ़ शिक्षा में काफी सहयोग देना शुरू कर दिया था। उन्होंने सहकारी अनाज बैंक को चलाने में मदद देनी शुरू कर दी और वयस्कों के लिए चलाए जाने वाले रात्रि पाली के स्कूल में भी काम करना शुरू कर दिया। अक्सर जब गांव के बुनियादी स्कूल में अध्यापक नहीं होता या छुट्टी पर चला जाता, तो वे वहां भी अपना योगदान देते। उन्होंने खादी कार्यक्रम में भी अपना सहयोग दिया, खासकर जिन छह गांवों से उनकी करीबी जुड़ाव था, वहां उन्होंने घर-घर घूम कर सर्वे किया और पता लगाया कि कितने परिवारों के पास हथकरघा सही हालत में हैं और वे उसका सक्रिय उपयोग कर रहे हैं।

इसी साल 1947 में हमें अंग्रेजों से राजनीतिक आजादी मिली, लेकिन उसकी हमें भारी कीमत चुकानी पड़ी। देश विभाजित हो गया और लोगों को काफी यातनाएं सहनी पड़ीं। गांधीजी ने सेवाग्राम में जो काम शुरू किया था, उसे देखने और प्रेरित करने के लिए वह दोबारा यहां नहीं आ सके। पोस्ट-बेसिक शिक्षा के अगले दो साल बड़ी खामोशी से कटे और इसमें प्रयोग जारी रहे। यहां के कर्मचारी काफी गुणी थे और उनमें बिल्कुल युवकोचित उत्साह था। इनकी लंबी सूची थी- वैज्ञानिक और अध्यापक राधाकृष्ण, कृषि वैज्ञानिक बनवारीलाल चौधरी, पशु विशेषज्ञ द्वारका प्रसाद परसाई और तमाम युवा इस प्रक्रिया का हिस्सा थे। इनकी पत्नियों और परिवारों ने अपने-अपने तरीके से समुदाय को विशेष योगदान दिया।

पोस्ट बेसिक शिक्षा का मूल उद्देश्य खाद्यान्न के उत्पादन और प्रसंस्करण में केंद्रीय स्थान हासिल करना था, इसे भुलाया नहीं गया। अपने पहले साल में हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने जमीनें अधिग्रहित कर कृषि, डेयरी और तेल पेराई से जुड़े स्वावलंबन के काम शुरू कर दिए थे। आगामी वर्षों के अनुभव बताते हैं कि पोस्ट बेसिक स्कूल की आगे चलकर वही तस्वीर बनी जो 1951 के सम्मेलन में उभर कर सामने आई थी। इसे एक ऐसा ग्रामीण स्कूल होना था जहां छात्र, शिक्षक और परिवार साथ रहें और अपने नियोजित श्रम के आधार पर खुद को एक समुदाय में बांधे रख सकें। इसके भीतर रोजमर्रा के सहज जीवन से जुड़े सभी जरूरी कारीगरी के कामों को शामिल होना था और उसकी निर्भरता पूंजी की आर्थिकी पर नहीं होनी थी। इस किस्म के गांव में एक व्यक्ति का कल्याण दरअसल सामुदायिक कल्याण में अंतर्निहित था और किसी भी उद्यम में अतिरिक्त उत्पादन से उपजने वाले मुनाफे को एक सामान्य आपात कोष का हिस्सा बनाया जाना था जिसे किसी संकट की स्थिति, मसलन बाढ़ या सूखे के चलते फसल बरबाद होने पर निकाला जा सके। आखिरकार गांधीजी का मंत्र भी तो यही था, "स्वावलंबन आजादी का प्रतीक है।"

दूसरी ओर, 1949 में नई चुनौतियां सामने आईं। भारत सरकार ने पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए दो नए टाउनशिप बनाने का काम शुरू कर दिया। पहला दिल्ली के दक्षिण में कुछ मील पर स्थित फरीदाबाद में होना था और दूसरा केंद्र शासित प्रदेश पटियाला के राजपुरा में बनाया जाना था। सरकार के अनुरोध पर हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने इन शिविरों में बच्चों के शिक्षण का कार्यभार अपने हाथ में लिया। इस काम को शुरू करने के लिए पोस्ट-बेसिक के चौदह वरिष्ठ लड़कों, उनके शिक्षक राधाकृष्ण व उनकी पत्नी कमला तथा सेवाग्राम में पढ़ रहे बिहार के दो प्रशिक्षु अध्यापकों को अक्टूबर के आरंभ में राजपुरा भेज दिया गया। वहां उन्हें

बीबी अतमस सलाम का सहयोग मिला जिन्होंने अपने रचनात्मक कामों के लिए राजपुरा में ही डेरा जमा लिया था।

राजपुरा में जिन शरणार्थियों को बसाया गया था, वे पाकिस्तान के बहावलपुर से आए थे। यह एक सुदूर और पिछड़ा इलाका था जहां साक्षरता की दर बहुत कम थी। भारत में दो साल पहले उनके आगमन के बाद से उनके बच्चों की शिक्षा के लिए अब तक कुछ नहीं किया गया था। इस किस्म का कोई भी काम शुरू करने से पहले उनका भरोसा जीतना बहुत जरूरी था। यह काम उतना आसान नहीं था क्योंकि वे लोग अचानक अपने ऊपर मधुमक्खी के छत्ते की तरह टूट पड़े "सामाजिक कार्यकर्ताओं" को लेकर काफी सशंकित थे। शुरू में तो वे पोस्ट-बेसिक लड़कों की उस टीम को ही स्वीकार करने को तैयार नहीं थे जिन्हें उनकी मदद को भेजा गया था।

इस कारण लड़कों और उनके शिक्षकों ने शुरुआत वहां की स्थितियों के आकलन और अध्ययन से ही की। वहां आवासीय सुविधाएं संतोषजनक नहीं थीं। लोगों को भेड़-बकरियों की तरह विशाल तंबुओं में ठूंस दिया गया था और छोटी-छोटी बातों पर वहां लोगों के बीच झगड़े देखने में आते थे। पोस्ट-बेसिक लड़कों ने तय किया कि सबसे पहला काम तो वहां लोगों के रहने की स्थितियों में ही सुधार करना है ताकि समूचे समुदाय के लिए शिविर का जीवन ज्यादा आसान हो सके। इस दौरान उन लड़कों ने भी खुद पास की ही एक झाड़ में डेरा डाल लिया जहां की स्थितियां शरणार्थी शिविरों से बहुत बेहतर नहीं थीं। उन्होंने शिविरों की हालत ठीक करने से पहले खुद के लिए किसी भी सुविधा की आकांक्षा नहीं की। उन्हें देख कर लोगों का भरोसा बढ़ा और वे ज्यादा मित्रवत हो गए। जल्द ही उनके बच्चों के लिए कोई यसोजना बनाने का काम आसान होता दिखने लगा।

बहावलपुर से आए लोग अधिकतर अनपढ़ थे और उनके बीच में शिक्षक तो बहुत ही कम थे। सेवाग्राम की टीम ने उन्हीं के बीच से मैट्रिकुलेशन पास कुछ कच्चे युवाओं को चुना, बच्चों को आम की झाड़ में इकट्ठा किया और स्कूल लगाने लगे। उनमें करीब तीन हजार बच्चे ऐसे थे जिनकी स्कूल जाने की उम्र हो गई थी। जनवरी 1950 तक इनमें से अधिकतर स्कूल जाने लगे। यहां चार स्कूल लगाए जाने लगे, दो लड़कों के और दो लड़कियों के लिए। इनमें से एक स्कूल नौवें दर्जे तक के बच्चों को पढ़ाने में सक्षम था। ऐसे ही स्कूल फरीदाबाद में भी लगाए गए। यहां शिक्षकों की संख्या ज्यादा थी, लेकिन यहां जरूरतमंद बच्चों की भी तादाद काफी थी।

शाब्दिक अर्थ में देखें तो ये स्कूल पूरी तरह बुनियादी स्कूल नहीं कहे जा सकते थे, लेकिन शुरुआत से ही यहां सामुदायिक जीवन के दो पहलुओं का समावेश किया गया- सामूहिक प्रार्थना का एक सत्र और सफाई का कार्यक्रम। सफाई के काम में शुरुआत में बड़ी उम्र के बच्चे हाथ बंटाने से हिचकते थे, लेकिन छोटे बच्चों को इसमें मजा आता था। पोस्ट-बेसिक लड़कों ने इस काम खुद आगे बढ़ कर हिस्सा लेना जब शुरू किया, तो उनका रवैया बदलने लगा। सभी बच्चों का चिकित्सीय परीक्षण करवाया गया। बारह साल से कम उम्र के करीब 1600 बच्चों को यूनीसेफ की तरफ से दूध दिया जाने लगा और उनकी सेहत दिन-ब-दिन सुधरने लगी। जैसे-जैसे वहां उपकरण उपलब्ध होते गए, बच्चों ने कताई का काम सीखना भी शुरू कर दिया।

यहां कई तरह की दिक्कतें थीं। यहां के बच्चे विभाजन के दौरान हुई हिंसा और आतंक के साक्षी थे। उसके बाद वे दो साल शिविरों में आवारा घूमते रहे। शिविरों में मुफ्त राशन मिलता था जिसके लिए होने वाली छीना-झपटी से उनके भीतर एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या और लोभ पैदा हो गया था। वे आपद परिस्थितियों के निर्दोष भुक्तभोगी थे। पोस्ट-बेसिक के लड़कों ने उन्हें एक आम सभा के माध्यम से स्कूल के मसले सुलझाने का तरीका सिखाया। वे उनकी टोलियां बना कर उनसे गीत गवाते, उनके साथ नाचते, खेलते थे। इस तरह धीरे-धीरे बच्चे उन संकीर्ण सांप्रदायिक प्रवृत्तियों से बाहर आने लगे जो उनके माता-पिता और पूरे समुदाय में फैली हुई थीं।

स्कूलों के साथ-साथ शिक्षकों का प्रशिक्षण भी चलता रहा। शुरुआती तीन महीनों में सभी प्रशिक्षु शिक्षकों के लिए नियमित दैनिक कक्षाएं लगाई जाती रहीं। ये कक्षाएं स्कूल के घंटों से अलग चलती थीं। इन कक्षाओं में उन्हें तकली से कातने की कला और नई तालीम के सामान्य सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती थी। फिर इनमें से 25 शिक्षकों को छह माह के एक सघन प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए चुना गया। इस कार्यक्रम में उन्हें कताई की शिक्षा दी जानी थी। इसके साथ्ज्ञ ही उन्हें बढ़ईगीरी और बुनाई का काम भी सीखना था। इसके बाद इन प्रशिक्षित शिक्षकों ने पांचवीं तक के स्कूलों का कार्यभार संभाल लिया। इन स्कूलों को बेसिक स्कूल के सिद्धांत के अनुसार चलाया जा रहा था। आखिर में राजपुरा में 1600 बच्चों के लिए चार बेसिक स्कूल जारी रखे गए जबकि फरीदाबाद में ऐसे आठ स्कूल चलते रहे।

इस बीच प्रौढ़ शिक्षा पर भी ध्यान दिया जा रहा था। अखिल भारतीय बुनकर ऐसोसिएशन की पंजाब शाखा की मदद से कताई काम काम हाथ में लिया गया और इस तरह बुनाई का सिलसिला भी चल निकला। पोस्ट बेसिक के लड़कों ने सेवाग्राम की तर्ज पर यहां भी इस काम को सहकारी तरीके से चलाने का प्रयास किया। इसके नतीजे न सिर्फ आर्थिक रूप से कारगर और उत्साहजनक रहे बल्कि इससे लोगों का मानसिक उपचार करने में भी मदद मिली। अब बच्चों के स्कूल और प्रौढ़ शिक्षा गतिविधियां, दोनों एक-दूसरे को पुष्ट कर रहे थे। यदि भविष्य के बारे में अनिश्चितता न होती तो राजपुरा में और बेहतर काम हो सकता था। फरवरी-मार्च 1950 में सरकार लगभग इस परियोजना को बंद कर देने के निकट पहुंच गई थी। अब इस योजना पर आगे तब तक काम नहीं किया जा सकता था जब तक कि इस सवाल को हल नहीं कर लिया जाता। बहरहाल, आखिरकार सरकार ने इस नई बस्ती को कायम रखने और उसके निर्माण को आगे बढ़ाने का फैसला लिया। जब यह फैसला आया तब तक पोस्ट-बेसिक लड़कों के लौटने का समय नजदीक आ चुका था। वे केवल एक साल के लिए ही यहां आए थे। जो लोग पहले इन लड़कों के यहां आने पर सशंकित थे आज उन्हें जाते हुए देख कर वे रो रहे थे।

9

नई तालीम भवन : शिक्षकों का प्रशिक्षण

बेसिक शिक्षा की उन्नति के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण बहुत महत्वपूर्ण था। आरंभिक वर्षों में वर्धा ट्रेनिंग स्कूल के उत्साह और दृष्टि से ही बच्चों के स्कूल संभव हुए थे। जैसे-जैसे सेगांव में स्कूल का काम बढ़ता गया वैसे-वैसे इस बात की जरूरत भी महसूस की जाने लगी कि शिक्षकों को भी ग्रामीण अंचल में ही प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। क्रमशः, 1 अगस्त 1942 को नए शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान का उद्घाटन किया गया। इसके उद्घाटन समारोह में प्रेम और सत्य, इन दो मूल्यों पर मुख्य रूप से जोर दिया गया। डॉ. जाकिर हुसैन ने इस मौके पर विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा, "शिक्षा की किताब के पहले पन्ने पर एक ही शब्द उत्कीर्ण होता है - प्रेम।" विद्यार्थियों ने भी अपने आदर्श के रूप में उपनिषद से लिए गए सूत्र वाक्य को दोहराया :

"मैं सिर्फ सत्य बोलूंगा। यह सत्य मेरी रक्षा करेगा। यही सत्य मेरे गुरु की रक्षा करेगा।"

विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए गांधी जी ने भी इसी सूत्र को दोहराते हुए कहा : "यह प्रार्थना आपकी रक्षा करे।"

इस नए प्रयोग के लिए परीक्षा की घड़ी उम्मीद से बहुत पहले ही आ गई। एक पखवाड़े में ही सरकार ने न सिर्फ गांधीजी के राजनीतिक सहयोगियों, बल्कि कई सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी गिर"तार कर लिया। नई तालीम भवन के वयस्क विद्यार्थी भी इस धर-पकड़ से नहीं बचे। सारा काम धराशायी हो गया। आखिरकार, 1945 के बाद ही धीरे-धीरे इस काम को दोबारा संगठित और बहाल किया जा सका।

राजनीतिक आजादी के बाद प्रारंभिक वर्षों में नई तालीम भवन और उत्तर बुनियादी भवन (पोस्ट-बेसिक स्कूल) के बीच काफी खींचतान चलती रही। शुरुआती दिनों में पोस्ट-बेसिक पाठ्यक्रम का एक उद्देश्य बेसिक स्कूलों के लिए शिक्षक तैयार करना था। राजपुरा और फरीदाबाद में जो प्रयोग चल रहा था वह इसी दिशा में एक प्रयास था। इन लड़कों के पास आठ-दस साल की बेसिक और पोस्ट-बेसिक शिक्षा थी इसलिए वे काफी आत्मविश्वास से दूसरों को पढ़ा सकते थे। इसी क्रम में नई तालीम भवन से राजपुरा आए दो नए विद्यार्थियों का भी उन्होंने गर्मजोशी से स्वागत किया। ये लड़के पोस्ट बेसिक लड़कों के मुकाबले नए थे और कम दक्ष थे लेकिन उनके पास एक युवकोचित उत्साह और परिपक्व समझ थी जिसके कारण उनकी उपस्थिति भी महत्वपूर्ण थी। कुछ ऐसा ही सेवाग्राम में भी हुआ था। नई तालीम भवन के नए मगर परिपक्व ओर कुशल विद्यार्थियों ने उत्तर बुनियादी यानी पोस्ट-बेसिक विद्यार्थियों के साथ मिलकर विशेष कार्यक्रम आयोजित किए और काफी कुछ सीखा। मसलन, इन कार्यक्रमों में एक अखंड खादी यज्ञ था। दूसरा, एक प्रदर्शनी थी जो कांग्रेस के जयपुर सम्मेलन के लिए तैयार की गई थी। इसके अलावा सेवाग्राम में सरअंजाम सम्मेलन और गांधीजी की मौत के बाद फरवरी-मार्च 1948 में हुए सर्वोदय सम्मेलन की भी तैयारी की जा रही थी। 1949 में ऐतिहासिक वर्ल्ड पैसिफिस्ट मीटिंग का आयोजन हुआ जिसमें दुनिया भर से लोग आए। ये लोग राष्ट्रीय नीति में युद्ध को निषिद्ध घोषित करवाने के प्रति वचनबद्ध थे। ये लोग गांधीजी के उन सहयोगियों और शिष्यों से मिलने आए थे जो शांति

को दैनिक अहिंसक जीवन की पहली शर्त मानते थे। यह एक रचनात्मक आदान-प्रदान का मौका था जिससे वहां उपस्थित विद्यार्थियों व शिक्षकों को नई तालीम के एक महत्वपूर्ण पहलू के बारे में बहुमूल्य शिक्षा मिली।

चालीस के दशक के आखिर और पचास के दशक की शुरुआत में नई तालीम भवन नई तालीम समुदाय का एक जीवंत केंद्र बन चुका था। इसके अलावा आनन्द निकेतन स्कूल, उत्तर बुनियादी भवन तथा प्रत्येक विभाग में भी काफी चहल-पहल रहती थी। आजादी के बाद भारत के विभिन्न राज्यों के शिक्षा विभाग अपने पुरुष और महिला स्नातकों को सेवाग्राम में प्रशिक्षण के लिए भेजने लगे थे ताकि वापस लौटने पर वे अपने राज्य की भाषा में नई तालीम के सिद्धांतों और शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों को विकसित कर सकें। इनमें से अधिकतर युवा शिक्षक थे जिनके पास परंपरागत शिक्षा का 4-5 साल का अनुभव था और उन्हें काफी संभावनाशाील माना जाता था। कुछ अन्य वरिष्ठ शिक्षक थे जिनके पास रिटायरमेंट के पहले अभी 10-15 साल की नौकरी बची हुई थी। ये शिक्षक देश के सभी कोनों से आए थे। देश के पूर्वोत्तर इलाके से आने वाले नागा और मिजो शिक्षक तमिलनाडु या गुजरात के ब्राह्मणों के साथ काम कर रहे थे तो पंजाब के सिख हैदराबाद के मुस्लिमों का साथ हाथ बंटा रहे थे। इस स्थिति में साझा सांस्कृतिक विरासत और मूल्यों की शिक्षा की भारी संभावना थी। यह काम, अध्ययन और मनोरंजन के क्रम में पुरुष और महिला विद्याार्थियों के बीच सहयोग स्थापित करने का मौका था।

चालीस के दश के इन्हीं आखिरी सालों में मैंने सेवाग्राम में काम शुरू किया और यहां के लोगों के काम में हाथ बंटाने लगी। साल-दर-साल हम प्रशिक्षण पाठ्यक्रम को और बेहतर बनाने की कोशिश करने लगे। धीरे-धरे हमने उसे पूरे फसल चक्र तक फैला दिया। व्यावहारिक दृष्टि से यह बहुत अपेक्षित चीज थी क्योंकि इस समुदाय में खेती ही मुख्य पेशा थी। हमें चाहते थे कि जब जून में पहली बारिश हो तो विद्यार्थी कपास की बुवाई के लिए वहां मौजूद रहें और अप्रैल में अपना पाठ्यक्रम खत्म करने और फसल की कटाई तक वहीं रहें। इस तरह उनके पास न सिर्फ कटाई के लिए बल्कि प्रारंभिक बुनाई सीखने के लिए भी पर्याप्त समय था। इसके लिए कबीर भवन का निर्माण किया गया जो पूरे नई तालीम समुदाय के लिए बनाया गया था। गांधीजी की मूल कल्पना के अनुसार, यह काफी जरूरी था कि शिक्षक कपड़ा बनाने की पूरी प्रक्रिया को देखें और जानें। अभी तक ज्यादातर काम केवल छोटे बच्चों से संबंधित था इसलिए कई लोग कताई को ही अपने आप में एक सम्पूर्ण कार्य मानने लगे थे। इसीलिए, पहले ह"ते में ही हमने नए प्रशिक्षुओं के सामने प्रस्ताव रखा कि अपने प्रशिक्षण के दौरान उन्हें इतना कपड़ा तैयार कर लेना चाहिए कि वे सबके लिए कम से कम एक जोड़ी कपड़े का इंतजाम कर लें। (यह देखना बड़ा मजेदार था कि इसके बाद उन्हें समझ में आ गया कि वे कितने कम कपड़े में काम चला सकते हैं)। इसके लिए कितने गज कपड़ा चाहिए था, उसका माप, शर्ट, पैंट, साड़ी में आदि में कितना धागा लगेगा, उसकी गणना और कितना कपास उगाया जाए तथा कितने बड़े खेत की आवश्यकता होगी - इन सारे सवालों के जवाब खोजने की प्रक्रिया से प्रशिक्षुओं के सामने फौरन ही यह बात साफ हो गई कि किसी भी प्रकार के सामान्य ज्ञान के लिए किसी कला को व्यवहार में आजमाना कितना जरूरी होता है और उसमें व्यवहार के साथ-साथ प्रेक्षण, अध्ययन, और संदर्भ ग्रंथों का भी कितना महत्व होता है।

अपने विद्यार्थियों की तरह मैं भी बुनाई के इस काम में नई थी इसलिए मैंने भी उनके साथ यह काम शुरू कर दिया। मैंने तय किया कि मैं अपने लिए एक कुर्ता तैयार करूंगी। मैंने तीन रंगों में चारखाने का एक साधारण डिजाइन चुना, धागों को रंगा और एक अहम नतीजे पर पहुंच गई। मैं इस बात की आलोचना करती रही थी कि बच्चों को सफेद कपड़ा बुनने की ही सलाह क्यों दी जाती है। बच्चों को रंग-बिरंगे कपड़े ज्यादा भाते हैं इसलिए अगर उन्हें रंगों के इस्तेमाल का मौका मिले तो उन्हें बड़ा मजा आएगा। अब मुझे अपनी बात के समर्थन में एक और तर्क मिल गया था। अपना कुर्ता बनाने की प्रक्रिया में मैंने पाया कि यह काम न सिर्फ दिलचस्प था बल्कि इससे तो काम और आसान भी हो जाता था। मैंने पाया कि तीन रंगों के सूत का इस्तेमाल करने से ताना बनाते समय धागों की गिनती करना बड़ा आसान हो जाता है। कुछ ही समय में कई विद्यार्थी इस उदाहरण को अपनाने लगे और उन्होंने असमिया करघों पर रंगीन धारीदार छोटे-छोटे तौलिए तैयार किए। बाद में परसाई जी की पत्नी कृष्णा बहन ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने सभी विभागों के विद्यार्थियों को कई उपयोगी वस्तुओं में रंगों और पैटर्न का इस्तेमाल करना सिखा दिया।

इस काम की दो तस्वीरें आज भी मेरी स्मृति में कायम हैं। पहली छवि तो एक अधेड़ उम्र के प्रशिक्षु-शिक्षक की है जो अपना बनाया छोटा सा तौलिया दिखाने के लिए बिल्कुल बच्चों की तरह भागा आया था। अपने जीवन में पहली बार उसने अपने हाथ से सचमुच की एक उपयोगी चीज बनाने का सुख महसूस किया था। दूसरी छवि एक युवक की है जो पाठ्यक्रम समाप्ति के दिनों में अपना सारा खाली समय कबीर भवन के अपने करघे पर बिताने लगा था। समुदाय में अपना योगदान देने के बाद अब अपनी पत्नी को भेंट देने के लिए अपने हाथ से एक साड़ी बनाना चाहता था। यह सुर्ख किनारी वाली सुनहरी साड़ी थी।

इस बीच हमने जिला बोर्ड की सहमति से सेवाग्राम के आसपास सात-आठ मील के घेरे में 20 ग्रामीण स्कूलों में भी नियमित अभ्यास शिक्षा शुरू कर दी थी। इनमें से अधिकतर स्कूलों में सिर्फ चौथे दर्जे तक की पढ़ाई होती थी और हस्तकौशल के नाम पर सिर्फ कताई की कला सिखाई जाती थी। हमारे विद्यार्थी दो-दो की संख्या में साइकिलों पर इन स्कूलों में जाते थे। उनके पास बांस के टुकड़े होते थे जिनसे वह असमिया करघा बना कर बच्चों के ही धागों से उन्हें कपड़ा बुनना सिखाते थे। इससे बच्चों में नया उत्साह पैदा हुआ। बड़े बच्चे तुरंत इस काम में लग गए और पारी-पारी से एक-एक इंच कपड़ा बुनने लगे। यह देखकर बाकी बच्चे भी और सावधानी से कताई करने लगे। जब गणेश चतुर्थी आयी तो गांव वाले हमें मंदिर में लेकर गए और उन्होंने बड़े उत्साह से मूर्ति के सामने बिछे तीन छोटे-छोटे तौलिए दिखाए। उत्साहित माता-पिता ने कहा कि "अगर बच्चे ऐसी चीजें बना सकते हैं तो फिर तो वे अपने कपड़े भी बना सकते हैं!"

अब इन स्कूलों में अगली कक्षा में जाने के लिए होने वाले सालाना इम्तहान के लिए भी मूल्यांकन का नया तरीका आजमाया जाने लगा। इसके लिए चार-पांच नजदीकी गांवों के चौथे दर्जे के बच्चों को बीच के किसी गांव में एक ह"ते के शिविर के लिए बुलाया जाता था और वहां वे एक समुदाय की तरह रहते थे। वे अपने साथ राशन लेकर जाते, गांव के कुछ लोग उन्हें सब्जियां और दूध दे जाते, वे खुद खाना बनाते और सफाई करते। उन्हें खुद अपना हिसाब और रिकॉर्ड रखना होता था, वे डायरी लिखते और उनके हस्तकौशल की परीक्षा ली जाती। इस समूह में मौजूद हरेक स्कूल को ह"ते में एक बार रात में सार्वजनिक मनोरंजन प्रस्तुति देनी होती

थी। इसमें माता-पिता व अभिभावकों समेत गांव के अन्य लोग भी आते थे। इस कार्यक्रम में ग्रामीण जीवन के गीत, नृत्य, खेल, चुटकुले और छोटे-छोटे नाटक होते थे। नियम यही था कि कक्षा का प्रत्येक बच्चा किसी न किसी कार्यक्रम में हिस्सा ले क्योंकि कार्यक्रम को कामयाब बनाने के लिए केवल एक-दो हरफनमौला बच्चों को ही केंद्र में रखा जाए। इन शिविरों में न केवल बच्चों का सही मूल्यांकन हो जाता बल्कि उनका उत्साहवर्द्धन भी होता। नतीजा ये हुआ कि जल्दी ही तीसरे दर्जे के बच्चे भी इस बात की मांग करने लगे कि उनकी भी परीक्षा ली जाए!

स्कूलों के जरिए नियमित आयोजित होने वाले स्वास्थ्य जांच कार्यक्रम से इन गांवों के साथ मित्रवत रिश्ते बनाने में और मदद मिली। अच्छे स्वास्थ्य के सिद्धांतों में शिक्षा के महत्व पर हमेशा ही जोर दिया जाता रहा है। 1939 में प्रसिद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सक डॉ. ए लक्ष्मीपति सेवाग्राम आए थे। अपने प्रवास के दौरान उन्होंने वहां के विद्यार्थियों को औषधीय गुणों वाले स्थानीय पौधों का उद्यान लगाने के लिए प्रोत्साहित किया। जब राजनीतिक अस्थिरता पैदा हुई तो गांधीजी ने उन्हें अपने घर लौट जाने की सलाह दी और उनका प्रयास पूरा नहीं हो पाया। इसके बाद भी वह सेवाग्राम के संपर्क में रहे और 1954 में दोबारा यहां आए। इस बार भी वह रुक नहीं पाए। 1959 में वह तीसरी बार यहां आए। इस बार उन्होंने विनोबाजी से मुलाकात कर औषध उद्यान के लिए पांच एकड़ जमीन अलग से निकालने का निवेदन किया जहां विद्यार्थियों को प्रशिक्षित भी किया जा सकेगा। उसी दौरान तालीमी संघ भी एक ग्रामीण विश्वविद्यालय खोलने की संभावनाओं पर काम कर रहा था। डॉ. लक्ष्मीपति ने प्रस्ताव रखा कि इस विश्वविद्यालय में ग्रामीण स्वास्थ्य पर भी एक डिप्लोमा पाठ्यक्रम रखा जाए और उसे गांधी जी के आग्रह पर डॉ. साहब द्वारा तैयार किए गए ग्राम वैद्य गुटका के अनुसार चलाया जाना चाहिए। अफसोस, यह योजना कभी फलीभूत नहीं हो सकी।

1955 में डॉ. एल्टन कैसेल भी तालीमी संघ से जुड़ गए। आशा देवी की शिकागो यात्र के दौरान वह उनसे मिल चुके थे। वह एक भले, सहज और विनम्र व्यक्ति थे। उन्होंने जल्द ही गांव वालों का दिल जीत लिया और स्कूल के शिक्षकों, उत्तर बुनियादी विद्यार्थियों व नई तालीम भवन के साथ मिल कर काम शुरू कर दिया। वह ग्रामीण स्वास्थ्य के लिए तीन चीजों को बहुत जरूरी मानते थे : पीने का साफ पानी, मक्खी-मच्छरों से मुक्त साधारण शौचालय और समुचित पोषण। इस मदद और दोस्ताना अंदाज से गांव के अध्यापकों को काफी उत्साह मिला और कई स्कूल सही मायनों में सामुदायिक सेवा के केंद्र बन गए। डॉ. कैसेल की पुस्तक *विलेज हेल्थ* उनके इन्हीं अनुभवों पर आधारित थी। यह पुस्तक "शिक्षकों के लिए दिशानिर्देश" के रूप में लिखी गई थी और वह आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी आज से तीन दशक पहले, अपने प्रकाशन के समय थी।

हर साल जब शिक्षकों का एक नया दल सेवाग्राम आता तो हम उद्घाटन समारोह के लिए विनोबाजी को बुला लेते जो चार मील दूर पौनार में ही रहते थे। उनकी बातों में सदा कुछ न कुछ उत्तेजक और चुनौतीपूर्ण जरूर होता था। वह कहते, "तुमने आज तक का अपना जीवन सुनने-बतियाने में बिताया है। अब अपनी जबान और कानों को आराम दो। अब अपने हाथों, आंखों और दिमाग का इस्तेमाल करके खेतों में या कार्यशाला में कुछ बना कर दिखाओ। अब लेक्चर हॉल से बाहर निकलो।" हालांकि इसके बाद भी कभी-कभी कक्षाएं लगती थीं परंतु उनमें भी कारीगरी और सामुदायिक जीवन से जुड़ी समस्याओं पर ही बात होती थी। किताबें कहीं नहीं थीं।

कभी–कभी विनोबाजी उस समरूपता पर भी बोलते जो शैक्षणिक नियोजन और यहां तक कि नई तालीम में भी घर कर चुकी थी। वह कहते, "तुम पौनार में वैसे नहीं पढ़ा सकते जैसे सेवाग्राम में पढ़ाते हो। क्यों भला? वह इसलिए कि पौनार में एक नदी है जबकि सेवाग्राम में नहीं है।"

कई प्रशिक्षु शिक्षकों ने बेहतरीन काम किया और वे समुदाय के बहुमूल्य, विश्वसनीय और संवेदनशील सदस्य बन गए। जब वे यहां आए थे तो उन्हें गांधीजी के बुनियादी विचारों पर पूरा यकीन नहीं था। कुछ ने तो उन्हें कभी भी पुरी तरह स्वीकार नहीं किया हालांकि अपने प्रशिक्षण के दौरान उन्होंने सामुदायिक जीवन में पूरी ईमानदारी से सहयोग दिया। कई अन्य थे जिन्होंने न केवल नई शैक्षणिक तकनीकों को स्वीकार किया बल्कि उन बुनियादी सिद्धांतों को भी अपना लिया जिन पर ये तकनीकें आधारित थीं।

असली दिक्कत तब सामने आयी जब ये शिक्षक अपने राज्यों को लौट गए। शिक्षा विभाग की ओर से उन्हें साल भर के प्रशिक्षण के लिए भेजना एक बात थी, लेकिन वापस लौटने पर दनके नए कौशल को लागू करने के लिए परंपरागत व्यवस्था को बदलना बिल्कुल दूसरी बात थी। इस व्यवस्था में मानव संसाधनों की खूब बरबादी हुई। यहां से नई चीजें सीख कर लौटे युवक–युवतियों को दोबारा परंपरागत हाई स्कूलों की नौकरियों में वापस भेज दिया गया और उनसे उम्मीद की जाने लगी कि वे पुराने ढर्रे में खुद को फिट कर लें। जिन्हें प्रशिक्षण विद्यालयों में भेजा गया उनमें से ज्यादातर कनिष्ठ पदों पर तैनात किए गए जहां उनके वरिष्ठ शिक्षक आज भी पुरानी लीक से चिपके हुए थे और किसी किस्म के बदलाव को तैयार नहीं थे। लौटने वालों में जो वरिष्ठ पदों पर थे और जिन्हें प्रशिक्षण विद्यालयों की कमान दे दी गई वे अपने विचारों को मूर्त रूप देने में कामयाब रहे। उनके प्रयोगों से पता चला कि यदि प्रशासनिक जड़ता बाधा न बनती तो इन नए विचारों के सहारे कितना कुछ किया जा सकता था।

इन परिस्थितियों ने विनोबाजी के इस तर्क का मतलब स्पष्ट कर दिया था कि जब हमने 1947 में पुराने झंडे से पीछा छुड़ाया था, उसी समय हमें पुरानी शिक्षा से भी पीछा छुड़ा कर बिल्कुल नई इबारत लिखनी चाहिए थी। मगर ऐसा नहीं हुआ इसलिए शिक्षा विभागों में व्याप्त भ्रम और दोहरी नीतियों के चलते हमारी प्रगति किस हद तक कुंद रही। गनीमत थी कि अब भी नई तालीम भवन में नए विद्यार्थी आ रहे थे। चाहे वे अपनी पहल पर आए हों या या फरीदाबाद, राजपुरा अथवा "गांधीवादी" संस्थानों से आ रहे हों, मगर नए प्रशिक्षु जुड़ते जा रहे थे। उनमें से कई बाद में उलेखनीय सेवा के मार्ग पर बढ़ते गए जो अपने आप में ही उन लोगों के लिए एक पुरस्कार था जिन्होंने उनको यह नई राह दिखायी थी।

10

पोस्ट बेसिक के अनुभव : 1951-59

1951 तक पोस्ट-बेसिक स्कूल ने कृषि और पशुपालन विषयों में तीन साल के दो पूर्णकालिक पाठ्यक्रम शुरू करने का फैसला ले लिया था। उनके अलावा तेल निकालने, खजूर का गुड़ बनाने और मधुमक्खी पालन जैसे कई मौसमी पाठ्यक्रम और उपपाठ्यक्रम भी शुरू किए गए। इन कामों के लिए 43.5 एकड़ जमीन दी गई थी। उसमें से कुछ जमीन पर सिंचाई की व्यवस्था थी जबकि बाकी जमीन सूखी थी जिसे बारिश के पानी से ही सींचा जाता था। इसका उद्देश्य यह था कि करीब 85-90 लोगों का पोस्ट-बेसिक समुदाय खुद जमीन पर काम करे और अपने लिए अनाज तथा कपड़ों के लिए कपास पैदा कर सके। मवेशियों के चरने के लिए अलग से जमीन थी। पोस्ट-बेसिक विद्यार्थियों ने समूचे नई तालीम समुदाय की ओर से उत्पादकों और उपभोक्ताओं को मिला कर एक सहकारी डेयरी भी बना ली थी। उनके पास अपने भी मवेशी होते थे जिनकी देखभाल का जिम्मा उनके एक साल के पाठ्यक्रम का हिस्सा था।

अब पोस्ट-बेसिक समुदाय में बाहर से आए लड़के भी शामिल हो चुके थे जो उड़ीसा से बेसिक शिक्षा लेकर आए थे। विद्यार्थियों में 14 लड़कियां भी थीं। लड़के और लड़कियां अलग-अलग छात्रवासों में रहते थे। लड़के-लड़कियों को किसी भी तरह की विशिष्ट शिक्षा उनके अपने छात्रवासों में ही दी जाती थी जबकि सभी सामान्य पोस्ट-बेसिक पाठ्यक्रम लड़के और लड़कियों, दोनों के लिए समान रूप से उपलब्ध थे।

कुछ लड़कियों ने पशुपालन में भी अपनी दक्षता का परिचय दिया। उनका प्रदर्शन काफी प्रभावशाली था। उनके पास स्वतंत्र सोच और प्रेक्षण की क्षमता थी। स्वच्छता और पोषण के माध्यम से दुग्ध उत्पादन बढ़ाने के लिए परसाई जी द्वारा किए जा रहे प्रयासों में भी उन्होंने खासी दिलचस्पी दिखाई। एक लड़की ने चार-पांच गायों का विशेष अध्ययन किया और पाया कि एक साल के भीतर एक गाय का दुग्ध उत्पादन 18 पौंड से बढ़ कर 26 पौंड (12-13 लीटर) प्रतिदिन तक पहुंच गया था। गुजरात से आई एक आदिवासी छात्र ने कहा था कि जब वह यहां आई थी उसे अपनी जिम्मेदारियां कितनी भारी लगी थीं। उसने लिखा, "जब आप सोचना शुरू करते हैं, तभी आप सीखते हैं। और सीखने को तो किसी से भी सीखा जा सकता है, यहां तक कि नन्हे-नन्हे बछड़ों से भी। वे बिल्कुल बच्चों की तरह होते हैं। आपके प्रेम और देखभाल के प्रति फौरन प्रतिक्रिया देते हैं।" उसने उनके नहाने-धोने और साफ-सफाई से जुड़ी कई महत्वपूर्ण बातों के बारे में लिखा था। और अंत में फिर उसने बच्चों से तुलना करते हुए लिखा कि उनके साथ भी बच्चों जैसा ही बरताव किया जाना चाहिए। उसने लिखा, "उन्हें भी मजे लेने दो। उन्हें भी अपनी *बालवाड़ी* में एक बगीचा मिलना चाहिए!"

गोशाला में अपने प्रवास के दौरान पोस्ट-बेसिक विद्यार्थी पशुपालन के क्षेत्र में चल रहे अन्य प्रयोगों को समझने के लिए बाहर भी जाते रहते थे। इसी क्रम में उन्होंने नागपुर के सरकारी पशुपालन और मुर्गीपालन इकाइयों का भी दौरा किया। उनके पास जो व्यावहारिक अनुभव थे उनके सहारे वे इन प्रयोगों को बखूबी समझ सकते थे।

वहां जाकर उन्होंने मवेशियों की प्रजातियों और उनके उत्पादन–प्रजनन के बारे में पूछा, रिकॉर्ड रखने की प्रक्रिया को समझा, उन्होंने बछड़ों को स्वयं दूध चूसने देने की बजाय हाथ से दूध पिलाने की नीति पर सवाल उठाए। कुल मिला कर उनका नजरिया काफी आलोचनापूर्ण था। उन्होंने देखा कि इमारतों पर तो खूब खर्च किया गया था जबकि स्वच्छता के नाम पर तमाम खामियां थीं। चारों तरफ मक्खी–मच्छरों का राज था!

इन दौरों से उन्हें और भी कई चीजें सीखने को मिलीं। मसलन, रेलवे स्टेशन तक पैदल चल कर जाएं तो पैसे बचाए जा सकते हैं (उस समय सबसे नजदीकी रेलवे स्टेशन वर्धा में ही था; तब सेवाग्राम स्टेशन नहीं बना था)। वे सस्ती और धीमी ट्रेनों से यात्रा करते और खुद अपना भोजन बना कर साथ ले जाते थे। उन्होंने राजपुरा और फरीदाबाद के अपने वरिष्ठों से यह सीख ली कि सामुदायिक जीवन का अनुशासन कहीं भी लागू किया जा सकता है। नागपुर में बिजली के बल्ब देख कर उन्हें बड़ा सुखद आश्चर्य होता था क्योंकि तब तक सेवाग्राम में बिजली नहीं पहुंची थी। लिहाजा, लालटेन जलाने की कला सेवाग्राम के किसी भी नवागंतुक के एजेंडा पर सबसे ऊपर होती थी ताकि पर्याप्त प्रकाश का इंतजाम किया जा सके।

इस दौरान कृषि विद्यार्थी अपनी गलतियों से नए सबक हासिल कर रहे थे। एक साल ऐसा हुआ कि अनाज की घोर कमी पड़ गई जबकि कपास जरूरत से ज्यादा पैदा हो गया। इस असंतुलन को दुरुस्त करना जरूरी था। लड़कों ने जो कपास पैदा किया बाजार में उसके अच्छे दाम मिल रहे थे क्योंकि वे बड़ी सावधानी से कपास बीनते थे और वह साफ–सुथरा होता था। लेकिन यह तो पूंजी बाजार पर निर्भरता वाली बात थी। यह स्वावलंबन का मार्ग नहीं था। इसका मतलब है कि अभी उन्हें भूसंसाधनों के कुशल उपयोग और दोहन के बारे में बहुत कुछ सीखना बाकी था।

शांता बहन और सेगांव स्कूल के हेडमास्टर पवारजी ने 1945–47 में जो कम्पोस्ट पाखाने बनाए थे उनकी उपयोगिता के बारे में अध्ययन किया गया। सरकारी बायोकेमिस्ट का कहना था कि इन पाखानों में बना कम्पोस्ट खाद गोबर के खाद से कमतर नहीं था लेकिन उसमें नाइट्रोजन की मात्रा कम थी क्योंकि सोख्ता गड्ढों को ढंकने के लिए बहुत ज्यादा मिट्टी और बहुत कम जैविक सामग्री का इस्तेमाल किया गया था। पोस्ट–बेसिक विद्यार्थियों ने शौचालयों की इस विकृति को दूर करने के लिए कदम उठाए और इसके बाद फसल उपचार के कुछ नए तरीके आजमाए। उन्होंने फसलों पर पानी और पेशाब के मिश्रण, पेशाब से गीली मिट्टी और शौचालयों में बने कम्पोस्ट का इस्तेमाल किया। नतीजा यह हुआ कि बिना खाद वाली फसलों के मुकाबले सब्जियों का उत्पादन दोगुना हो गया। कपास की पैदावार में और भी ज्यादा सुधार आया। गोबर खाद के मुकाबले भी उत्पादन में 50 प्रतिशत इजाफा हुआ। उपज की गुणवत्ता भी सुधर गई। धनिए की डालियां अब जल्दी कठोर नहीं हो रही थीं और कच्चे सीताफल झड़ने बंद हो गए थे। उनकी गुणवत्ता और मात्रा दोनों में भारी सुधार आया। संतरे का उत्पादन भी बढ़ गया। इन सारे प्रयोगों का निचोड़ 1953 में एक पुस्तिका में संकलित किया गया जिसमें बरसों के ज्ञान के आधार पर ऐसे शौचालयों के निर्माण और रखरखाव के बारे में दिशानिर्देश बरसों के सृजित ज्ञान पर आधारित थे।

बेसिक स्कूल की तरह पोस्ट–बेसिक स्कूल में भी कला को शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग माना जाता था। पूरा सेवाग्राम समुदाय मौसमी, राष्ट्रीय और धार्मिक पर्वों को सामूहिक रूप से मनाता था। इन आयोजनों में राग–रंग,

संगीत और खूबसूरत शब्दों के मिश्रण से बड़ा आकर्षक माहौल बनता था। 1949 के वर्ल्ड पैसिफिस्ट सम्मेलन में आए कई विदेशी मेहमानों का कहना था कि उन्होंने कभी क्रिसमस का इतना वास्तविक आयोजन नहीं देखा था। क्रिसमस की कहानी में प्राण फूंकने के लिए पोस्ट-बेसिक की गौशाला में गांव की सबसे छोटी बच्ची और उसके माता-पिता ने लालटेन की रोशनी में अभिनय किया था। ठीक इसी खूबसूरती से अयोध्या पूजा, दिवाली या पैगंबर मोहम्मद की जयंति मनायी जाती थी। इन उत्सवों पर एक पैसा नहीं खर्च किया जाता था; सिर्फ कल्पना के फलक और मौसमी रंगों व सहज उपलब्ध चीजों के मिश्रण से ही हर मौके को विशिष्ट बना दिया जाता। इन उत्सवों की बागडोर आशा देवी और देवी प्रसाद जी के हाथों में होती थी। आशा देवी को भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से गहरा अनुराग था और उनके पास इन तीज-त्यौहारों का विशद ज्ञान था। दूसरी ओर देवी प्रसाद भी अहिंसा के सिद्धांत को समर्पित कलाकार थे जिन्होंने विद्यार्थी जीवन के अपने दो साल शांतिनिकितन में बिताए थे। उन पर गांधीजी और टैगोर, दोनों का समान प्रभाव था।

ये उत्सव नई तालीम भवन के प्रशिक्षु शिक्षकों के लिए बिल्कुल अनूठा अनुभव थे। उनमें से अधिकतर ने आज तक शहरों का व्यावसायिक मनोरंजन ही देखा था। इस नए अनुभव से उन्होंने फौरन ही अपने लिए नए कार्यभार ढूंढ लिए। 1952 में उन्होंने खुद अपने बूते एक विशेष उत्सव का आयोजन किया। उन्होंने कुछ महीने में ही अपनी प्रधानाचार्या के लिए ग्रामीण शैली में दो कमरे का एक मकान तैयार कर दिया। निर्माण पूरा होने के बाद बड़े उत्साह से प्रधानाचार्या का सामान नए मकान में पहुंचाया गया। इसके बाद गीत-संगीत, पाठ और परंपरागत गृह प्रवेश की रस्म संपन्न की गई। हर साल ऐसे कई आयोजन होते थे। इन आयोजनों में यहां के सभी विद्यार्थियों के क्षेत्र की कला, संस्कृति और खान-पान की प्रस्तुति होती थी।

1951 में उत्तर बुनियादी भवन ने भारतीय इतिहास पर *भारत की कथा* नाम से एक नृत्य-नाटिका का आयोजन किया। इस काम में तकरीबन पूरा समुदाय शामिल था। युवा और वृद्ध, सभी ने अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार अपना योगदान दिया। इस कार्यक्रम की योजना बनाने से लेकर उसे मंचन तक, हर चीज का अपना एक शैक्षणिक मूल्य था। उसे पहली बार नई तालीम सम्मेलन में अप्रैल 1951 में पेश किया गया। कुछ महीने बाद जब प्रधानमंत्री सेवाग्राम आए तो कुछ संशोधन करके उसे दोबारा प्रस्तुत किया गया। इसकी तीसरी संशोधित प्रस्तुति 1952 के नई तालीम सम्मेलन में की गई। इस किस्म के कार्यक्रमों की खूब सराहना होती थी और इनसे अन्य व्यक्तियों व संस्थानों को भी प्रेरणा मिलती थी। इन आयोजनों का सबसे बड़ा मूल्य ये था कि उसमें शामिल होने वाले सभी लोगों को इस विषय के बारे में नई शिक्षा और दृष्टि मिलती थी।

शिक्षा के लिहाज से ऐसे बिंदु और भी महत्वपूर्ण होते थे जब कोई चीज गलत लीक पर चली जाती थी। ऐसे अवसर पर पर समुदाय को यह सीखने का मौका मिलता था कि व्यवहार में एक-दूसरे की कमियों की भरपाई करने का क्या मतलब होता है। मसलन, एक बार उत्तर बुनियादी भवन के खाते में महीने के आखिर में चौबीस रुपए की गड़बड़ पायी गई। जो लड़का खाते संभाल रहा था वह भी इस गड़बड़ी की वजह नहीं बता पा रहा था। लिहाजा, ये तय किया गया कि इस नुकसान की भरपाई करने के लिए उस लड़के को ओवरटाइम में कोई उत्पादक काम करना होगा। इसका नतीजा ये हुआ कि अगले महीने का खाता पाई-पाई सही पाया गया!

एक दफे एक लड़के को गौशाला में भारी लापरवाही का जिममेदार पाया गया। यह मामला सिर्फ पैसे का नहीं था, इसमें पशुओं का जीवन भी दांव पर लगा हुआ था। इस समस्या को दूर करने के लिए फैसला लिया गया कि उसे गौशाला से हटा कर उसके दोस्तों और सहपाठियों से अलग किसी दूसरे काम पर भेजा जाए। अगली आम सभा में उसने सार्वजनिक रूप से अपनी गलती मानी और पूरे समुदाय से माफी मांगी। इसके बाद उसे वापस उसकी कक्षा टोली में ले लिया गया।

इस किस्म की गड़बड़ियों, झगड़े-फसाद, दुर्व्यवहार आदि पर समुदाय की नियमित बैठकों में चर्चा की जाती थी। हालांकि गलती करने वालों को ये अच्छा नहीं लगता था कि उनकी गलती पर सार्वजनिक रूप से चर्चा हो मगर कुल मिला कर इसका असर अच्छा ही रहा। इससे लोगों को सही मुद्दों को समझने, जनमत या आम राय बनाने और सही-गलत को समझने में मदद मिली।

व्यक्ति के प्रति समुदाय और समुदाय के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों को ऐसे रचनात्मक तनाव की स्थिति में ही समझा जा सकता है जब नागरिकों के बीच आदान-प्रदान और व्यावहारिक स्वशासन की स्थिति पैदा होती है। स्कूली लोकतंत्र के खट्टे-मीठे अनुभव और कानून व अनुशासन की हमारी समझ उसी इंसानी समाज, मनोविज्ञान और इतिहास के अध्ययन से विकसित होती है जो इस अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करती है।

रचनात्मक तनाव की ऐसी ही एक और स्थिति है जिसका अनुभव उत्तर बुनियादी ने भी इन सालों में महसूस किया है। मनुय अपने जीवन की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए अपने आसपास की दुनिया का इस्तेमाल करता है, अपने वातावरण में मौजूद संसाधनों का दोहन करता है। उत्तर बुनियादी भवन भी एक समुदाय के रूप में यही सब कर रहा था। लेकिन दुनिया को देखने का एक तरीका और भी है। इस दुनिया को तटस्थ भाव से, खालिस प्रयोग के तौर पर भी जाना-बूझा जा सकता है। इससे भी आपको खुशी मिलती है और यह भी इंसानी अनुभव का ही एक हिस्सा है। इस लिहाज से दोनों तरीके एक-दूसरे को काटते नहीं हैं बल्कि एक-दूसरे के पूरक होते हैं। दुनिया को उसकी समग्रता में जानने के लिए काम और मनोरंजन, श्रम और आराम, खेती और रचनात्मक कला, दोनों पहलुओं की जरूरत पड़ती है। पोस्ट-बेसिक समुदाय के भीतरी द्वंद्वों में इस बात पर सहमति बना लेना इतना आसान नहीं था कि किसी लड़के या लड़की को उसकी पसंद के क्षेत्र, मसलन कला पर काम करने देने के लिए पेट भरने के वास्ते जरूरी रोजमर्रा के सामान्य सामुदायिक कामों से कितनी हद तक छूट दी जा सकती है। हमारे स्कूलों को चाहिए कि वे अपने विद्यार्थियों को इन तनावों को समझने का मौका दें ताकि उनके विद्यार्थी दोनों नजरियों की वैधता को परख सकें। इसके बाद हरेक मामले को लगाव और उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से उठाया जा सकता है और एक तरह के कामकाजी "समझौते" पर पहुंचा जा सकता है (जी हां, एक अहिंसक समाज में "समझौता" बुरी बात नहीं होती है)।

पचास के दशक में सेवाग्राम के उत्तर बुनियादी भवन में रचनात्मक तनाव का ऐसा ही एक मामला कालिंदी जेना के रूप में सामने आया था। अब कालिंदी जेना सिरेमिक कलाकार के रूप में काफी मशहूर हो चुके हैं। अकादमिक जगत ही नहीं बल्कि उसके बाहर भी लोग उनके हुनर को मान चुके हैं। उनके पास कोई औपचारिक प्रमाणपत्र नहीं है मगर अपने हाथों में छिपे कलात्मक सौंदर्य और हुनर से उन्होंने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी है। वर्ल्ड पैसिफिस्ट सम्मेलन के अपने अनुभवों के बारे में इंग्लैंड के विल्फ्रेड वेलॉक ने कहा था कि "शिक्षा का

मकसद ये होना चाहिए कि व्यक्ति को जीने की कला सिखायी जाए और उसमें कला के हर पहलू को उपयुक्त स्थान दिया जाना चाहिए। फिर भी बुनियादी गतिविधि तो काम ही है क्योंकि यह हमारी भौतिक जरूरतों को पूरा करता है, मनुष्य को सृजनशील बनाता है और यह हमारी आध्यात्मिक, मानसिक व शारीरिक शक्तियों को उत्तेजित करता है जो काम के हरेक स्वरूप में विश्राम, ध्यान और आनंद के माध्यम से तरो–ताजा होती जाती हैं।"

11

अगला कदम : 1955–1959

जनवरी 1956 में सेवाग्राम में पहला विशेष उत्तर बुनियादी सम्मेलन आयोजित किया गया। उत्तर बुनियादी भवन और आनन्द निकेतन बेसिक स्कूल, दोनों ही सुगमता और आत्मविश्वास के साथ काम कर रहे थे। यह एक अच्छा संकेत था कि उनके बारे में कोई उलेखनीय समस्या सामने नहीं आयी। वे सही मायनों में भर्तृहरी की इस कहावत को चरितार्थ कर रहे थे कि "बुद्धि काम से ही आती है।" ये दोनों स्कूल निस्सीम प्रकृति की गोद में आनन्ददायक गतिविधियों के जरिए शिक्षा के आदर्श को साकार कर रहे थे। नई तालीम के प्रणेताओं में से एक काकासाहेब कालेलकर ने 1954 में कार्यकर्ताओं को बताया था कि सत्य जितना परिपूर्ण होता जाता है, उतना ही "कम वाचाल, मौन और जीवन से परिपूर्ण होता जाता है।"

इस दौरान कई सकारात्मक और नकारात्मक कारक थे जिनके चलते नई तालीम की तकनीकों के स्थान पर उसकी व्यापक सामाजिक प्रासंगिकता सुनिश्चित करने पर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा था जिससे एक "मौन सामाजिक क्रांति" का सूत्रपात हो सके। गांधीजी की कल्पना थी कि यह शिक्षा ही ऐसी सामाजिक क्रांति को साकार कर सकती है। इस बदलती सोच के पीछे विनोबा भावे द्वारा 1951 में शुरू किया गया भूदान आंदोलन एक महत्वपूर्ण कारक था जो अगले पांच साल में अपने प्रभाव और उत्साह के चरम पर पहुंच चुका था। नई तालीम के कार्यकर्ता राष्ट्र की जरूरतों के प्रति हमेशा संवेदनशील रहे हैं। 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान इन कार्यकर्ताओं ने अपने शैक्षणिक कार्य की परंपरागत सीमाओं से बाहर निकलकर काम किया था। इसके बाद 1949 में उन्होंने शरणार्थी शिविरों में पुनर्वास का काम भी उसी उत्साह से संभाला था। अब वे विनोबाजी को भी वैसी ही सहयोग दे रहे थे। गुजरात में आयोजित 1954 के नई तालीम सम्मेलन में आर्यनायकमजी ने इसी भावना को बड़े सुदर शब्दों में व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था कि अब नई तालीम से विकसित हुए मानव संसाधनों और भूदान द्वारा मुक्त कराए गए भूसंसाधनों को परस्पर जोड़ने का वक्त आ गया है ताकि "सर्वहित के लिए जल और भूमि का सम्मानजनक प्रयोग सुनिश्चित किया जा सके।"

1952 के बाद तालीमी संघ ने उत्तम बुनियादी तालीम की परिकल्पना पर गंभीरता से विचार-विमर्श शुरू कर दिया था। इस शिक्षा का मकसद ये था कि ग्रामीण भारत की जरूरतों और समस्याओं पर ऐसा शोध और चिंतन किया जाए जो किसी ग्रामीण विश्वविद्यालय में किया जा सकता है। आखिरकार 1955 में यह "विश्वविद्यालय" सेवाग्राम में शुरू कर दिया गया जिसमें पोस्ट-बेसिक चरण तक शिक्षा प्राप्त कर चुके कुछ स्नातकों को लिया गया था। इन युवाओं ने सबसे पहले एक समूह के रूप में विनोबाजी की के आह्वान पर भूदान आंदोलन में सहयोग करने का फैसला लिया। वे उन गांवों को विकसित करने के लिए विशंष रूप से उत्सुक थे जो ग्राम दान के लिए तैयार हो चुके थे। ग्राम दान की परिकल्पना में साझा हित के लिए गांव की जमीन का सामूहिक उपयोग करते हुए एक सहकारी ग्राम समुदाय के रूप में जीने की कला सीखना सबसे महत्वपूर्ण था। जनवरी 1957 में

तालीमी संघ ने भी इस पहल का समर्थन किया। संघ ने कहा कि "विनोबाजी का भूदान आंदोलन अब ग्रामदान का रूप ले चुका है। अब वक्त आ गया है कि इस कार्यक्रम के माध्यम से एक अहिंसक सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया जाए। अहिंसक सामाजिक क्रांति शिक्षा के माध्यम से ही संभव है।" इस घोषणापत्र में कहा गया था कि प्री-बेसिक, बेसिक और पोस्ट-बेसिक शिक्षा के बाद अब "संघ का कर्तव्य है कि वह पूरी विनम्रता के साथ अहिंसक क्रांति का कार्यभार हाथें में ले और उसमें प्रवेश करे।"

शिक्षा को सामाजिक सरोकारों से अछूता नहीं रहना चाहिए, इस आशय की चर्चाओं के फलस्वरूप अंततः रचनात्मक कामों से जुड़े सभी गांधीवादी संस्थानों और संगठनों को मिला कर सर्व सेघा संघ की स्थापना कर दी गई। 1959 के बाद हिंदुस्तानी तालीमी संघ कोई स्वतंत्र इकाई नहीं रहा बल्कि इस नई संस्था की इकाई बन गया था। यही स्थित अखिल भारतीय बुनकर संघ और अन्य संगठनों की भी हुई। कई कार्यकर्ता संशय में थे कि सारे संगठनों का इस प्रकार औपचारिक तरीके से विलय वाकई अपेक्षित नतीजे दे पाएगा या नहीं। उन्हें डर था कि इससे सभी संगठनों का साझा उद्देश्य साकार नहीं हो पाएगा क्योंकि इससे प्रत्येक स्वतंत्र कार्य की अपनी मौलिकता खो जाएगी। इन चिंताओं व चुनौतियों से सर्व सेवा संघ भी अवगत था इस लिए जल्दी ही कई कमेटियों का गठन कर लिया गया ताकि वे अलग-अलग उद्देश्यों के लिए काम कर सकें। नई तालीम के लिए भी ऐसी ही एक कमेटी बना दी गई थी।

इन्हीं सालों (1955-59) के दौरान यह भी महसूस किया जाने लगा था कि यद्यपि सेवाग्राम में नई तालीम का काम काफी अच्छी तरह चल रहा था और लोग उसे काफी लगन व उत्साह से अंजाम दे रहे थे लेकिन नए इलाकों में उसका उम्मीद के अनुरूप विस्तार नहीं हो रहा था। भारत के तत्कालीन शिक्षा मंत्री श्री के. एल. श्रीमाली ने 1956 की पोस्ट-बेसिक कॉन्फ्रेंस में इसी चिंता को अभिव्यक्त करते हुए कहा कि नई तालीम का एक बुनियादी सिद्धांत यह था कि सभी बच्चों को पुरा सम्मान और विकास के समान अवसर मिलें लेकिन बुनियादी शिक्षा की जरूरत को सरकारी मान्यता मिलने से वर्ग भेद को बढ़ावा मिला रहा है। सरकारी नीतियों के चलते तीन तरह के स्कूल बन गए थे- गरीबों के लिए बेसिक स्कूल, मध्य वर्ग के लिए हाई स्कूल और संपन्न वर्ग के लिए पब्लिक स्कूल। उन्होंने कहा था, "एकरूपता हम भी नहीं चाहते लेकिन इस किस्म का विभाजन घातक है।" उनकी चिंता बिल्कुल जायज थी। सरकार बेसिक स्कूलों को सिर्फ पांचवें दर्जे तक ही "मान्यता" देती थी और व्यवहार के धरातल पर उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। स्वाभाविक है कि इसी वजह से गांवों के अभिभावक अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजने से कतराते थे और जहां तक संभव हो सके, उन्हें पुराने किस्म के स्कूलों में ही पढ़ने के लिए भेजते थे ताकि उन्हें प्रगति के "बेहतर" अवसर मिल सकें। समूचे ग्रामीण भारत और खास तौर से आदिवासियों के बीच एक किस्म के असंतोष और आशंका ने घर कर लिया था कि बेसिक स्कूलों के जरिए शासन उन्हें जान-बूझ कर "आगे बढ़ने से रोक रहा है"। जब कॉलज में प्रवेश के लिए पोस्ट-बेसिक शिक्षा को भी मान्यता नहीं दी गई तो ऐसे अभिभावकों ने भी नई तालीम से मुंह फेर लिया जो नई तालीम का महत्व समझते थे। उन्हें भी इस वाजिब शंका ने घेर लिया कि इस तरह तो उनके बच्चे उच्च शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर पाएंगे।

पंजाब स्थित राजपुरा में आयोजित नई तालीम सम्मेलन (1959) में आर्यनायकनजी ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा कि "एक ऐसा राज्य नई तालीम कार्यक्रम को लागू नहीं कर सकता जो प्रजा के लिए सामाजिक-आर्थिक समानता और अपने बच्चों के लिए शैक्षिक अवसरों की समानता को मान्यता नहीं देता।" उनका मानना था कि यह केवल राज्य की ही नहीं है बकि लोगों की भी विफलता है। उन्होंने कहा, "उत्पादक कामों के जरिए शिक्षा का सिद्धांत इसलिए कामयाब नहीं हो सकता क्योंकि एक राष्ट्र के रूप में हम इस धारणा को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं कि उत्पादक मानवीय श्रम के संपर्क में आते ही शिक्षा भ्रष्ट हो जाती है। श्रम के प्रति यह रवैया समाज के हर स्तर पर बना हुआ है। हर कारीगर और मजदूर चाहता है कि उसका बच्चा उस शिक्षित वर्ग में जगह पा जाए जिसे अपने हाथ से काम नहीं करना पड़ता।" इससे पिछले सम्मेलन (1957) में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक तीसरी दिक्कत भी गिनाई थी जो घरेलू मामलों और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में हिंसा को प्रतिबंधित करने की विफलता से उपजी थी। उन्होंने कहा था, "हम शांति और अहिंसा की बात तो करते हैं लेकिन लगातार ऐसे काम करते रहते हैं जो इसके विपरीत हैं।" इसी सम्मेलन में विनोबाजी का कहना था कि "शिक्षा और रक्षा को प्राय: दो भिन्न चीजें माना जाता है लेकिन अहिंसा में शिक्षा और रक्षा, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि दोनों को अलग करके देखा जाएगा तो अहिंसा का अर्थ अधूरा ही रह जाएगा।"

1957 के तुर्की सम्मेलन में यह बात भी उभर कर आयी कि इस संकट के लिए केवल सरकार या जनता को ही पूरी तरह जिम्मेदार नहीं माना जा सकता। श्री आर्यनायकम ने स्वयं कार्यकर्ताओं की भी एक बड़ी कमजोरी की ओर संकेत करते हुए कहा, "हमें यह मानना होगा कि बीस साल बाद भी हम पुरी तरह बदल नहीं पाए हैं। आज जो शिक्षक नई तालीम के लिए काम कर रहे हैं, क्या उनके पास साहस है कि वे सरकारी सहायता या समुदाय के समर्थन के बिना अकेले आगे बढ़ सकें? क्या वे अपने निजी, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में नई तालीम को साकार कर रहे हैं? यदि हम खुद को ऐसी कसौटियों पर परखें तो पाएंगे कि कुछ ही लोग हैं जो पूरी तरह नई तालीम के वाहक हैं। हम अपने शिक्षकों को दक्ष कारीगर बनाने में भी नाकाम रहे हैं। हमने इसी व्यवस्था से मैट्रिक और स्नातक किए हुए लोगों को ले लिया है इसलिए उनसे किसी ऐसे क्रांतिकारी काम की उम्मीद नहीं की जा सकती थी।"

तुर्की सम्मेलन में 16 साल बाद वही मुद्दे उठ रहे थे जो 16 साल पहले 1941 के जामिया सम्मेलन के सामने थे। जामिया नगर में गांधीजी ने कहा था कि इस प्रयोग को बगैर किसी बाहरी दखल के आगे बढ़ाना होगा। आर्यनायकमजी ने तुर्की सम्मेलन में इसी बात को दोहराते हुए कहा कि इस कार्यक्रम को "यह बिना किसी मिलावट का विशुद्ध कार्यक्रम होना चाहिए और केवल सच्चे शिक्षकों पर ही आश्रित होना चाहिए।" जब उन्होंने तुर्की में कहा था कि "हमें गांवों ओर शहरों की गलियों में किसानों और कारीगरों के बीच अपने शिक्षक ढूंढने होंगे" तो दरअसल वह जामिया नगर में दिए गए इसी आशय के सुझाव को ही दोहरा रहे थे जिसकी लगातार उपेक्षा की गई थी। उन्होंने कहा था, "ये लोग श्रेष्ठ परंपराओं के वाहक हैं। विनम्रता, ईमानदारी, कौशल और उत्साह उनकी सर्वोत्तम गुण हैं। यदि एक चौकस मस्तिष्क और गहरी सहानुभूति के साथ इन गुणों का सम्मिश्रण किया जाए तो हम अपेक्षा के अनुरूप शिक्षक प्राप्त कर सकते हैं। अब वक्त आ गया है कि हम नई दृष्टि के साथ ताजा शुरुआत करें।"

इस मौके पर 1941 के सम्मेलन का यह विवाद भी सामने आ गया कि शिक्षा पर राज्य के नियंत्रण को कैसे देखा जाना चाहिए। इस दौरान दिल्ली पर राज करने वाली "गोरी चमड़ी" की जगह तो "काली चमड़ी" वालों ने ले ली थी लेकिन अफसरशाही की संरचना में कोई बदलाव नहीं आया था। 1941 में इस बात को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया गया था कि शिक्षा प्रदान करना राज्य की जिम्मेदारी है। 1957 में विनोबा के उभार के बाद इसे चुनौती दी गई। लेकिन, क्या शिक्षा को सरकारी नियंत्रण से मुक्त नहीं होना चाहिए? क्या यह काम स्थानीय समुदाय के पास नहीं होना चाहिए? पचास साल से भी पहले रवींद्रनाथ टैगोर खुद यह सवाल उठा चुके थे क्योंकि गांधी जी की तरह उनकी भी यही मान्यता थी कि अहिंसक सामाजिक क्रांति के बिना राज्य अपने बच्चों के कल्याण के प्राकृतिक दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता।

1959-61 के साल सेवाग्राम के इतिहास में निर्णायक साबित हुए लेकिन यह प्रयोग उस "ताजा दृष्टि और ताजा शुरुआत" की ओर नहीं बढ़ पाया जिसका आह्वान आर्यनायकमजी ने किया था। पिछले 12 साल से जो लोग इस कार्यक्रम की बागडोर संभाले हुए थे उनमें से ज्यादातर ने दूसरे रचनात्मक काम संभाल लिए थे। इसके लिए आंशिक रूप से निजी कारण जिम्मेदार थे जबकि आंशिक रूप से विनोबाजी द्वारा प्रस्तुत किया गया व्यापक परिप्रेक्ष्य भी महत्वपूर्ण था। राधाकृष्ण गांधी शांति प्रतिष्ठान चले गए थे, परसाईजी पशुपालन के अपने ज्ञान को बड़े फलक पर फैलाना चाहते थे, बनवारी लाल चौधरी अपने गांव और जिले में काम करने के लिए चले गए। पोस्ट-बेसिक प्रयोगशाला को लगाने और उसके वैज्ञानिक मानक स्थापित करने वाले एम. ए. सत्यनाथन भी नए क्षेत्रों में जा चुके थे। देवी प्रसाद वॉर रेज़िस्टर्स इंटरनैशनल का न्यौता स्वीकार करके अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अहिंसा के लिए काम करने चले गए थे। मैंने भी अगले कुछ साल नीलगिरि की पहाड़ियों में कार्यकर्ताओं को छोटे पैमाने पर सघन प्रशिक्षण देते हुए बिताए और बाद में जयप्रकाश नारायण के सुझाव पर नगालैंड के पीस सेंटर चली गई जहां मुझे उन कई नागा मित्रों से मिने का मौका मिला जो कभी नई तालीम भवन में मेरे विद्यार्थी रह चुके थे।

नई तालीम भवन अगले कई साल तक श्री के. एस. आचारलू के निष्ठावान और कुशल मार्गदर्शन में चलता रहा। यहां से जो पुरुष और महिलाएं प्रशिक्षण लेकर गए थे उन्होंने एक के बाद एक कई राज्यों में शिक्षक प्रशिक्षण का काम जारी रखा हुआ था। तुर्की सम्मेलन में व्यक्त की गई अपेक्षा के अनुसार कारीगरों और किसानों के बीच से ऐसे शिक्षक नहीं निकले जोक उनका स्थान ले सकें। शंकर प्रहलाद पांडे आनंदनिकेतन स्कूल में अपना अनुभव और ज्ञान दे रहे थे लेकिन कालांतर में यह और उत्तर-बुनियादी भवन, दोनों ही धीरे-धीरे अपने नियंत्रण से बाहर की ताकतों के प्रभाव में दबते चले गए।

बेसिक शिक्षा के प्रति इस व्यापक अवश्विास से सेवाग्राम (सेगांव) भी अछूता कैसे रह सकता था! 1960-61 के दौरान आर्यनायकमजी और आशा देवी जब एक लंबे दौरे पर यूरोप चले गए और उसी दौरान गांव में परंपरागत तरीके का एक हाई स्कूल खोल दिया गया जिसने नई तालीम स्कूलों के विद्यार्थियों को अपनी ओर खींच लिया। कई राज्यों में स्थानीय उत्तर बुनियादी स्कूलों की स्थापना के बाद उत्तर-बुनियादी भवन की उपयोगिता सिर्फ स्थानीय विद्यार्थियों के लिए ही रह गई थी।

आर्यनायकमजी का विदेश दौरा कई चीजें साधने का जरिया था। एक मकसद ये था कि शिक्षा और अहिंसा के उन विदेशी "साधकों" के साथ सतत संपर्क बनाया जाए जो सेवाग्राम से जुड़े रहे थे। इस क्रम में सबसे पहले व्यक्ति थे डॉ. आर्थर मॉर्गन जो विश्वविद्यालय आयोग के सदस्य की हैसियत से 1949 में यहां आए थे और जिसके आधार पर उन्होंने ग्रामीण विश्वविद्यालय का अपना खाका बनाया था। उनके बाद विल्फ्रेड वेलॉक सहित वर्ल्ड पैसिफिस्ट मीटिंग के ऐसे सदस्यों से संपर्क किया गया जिन्होंने नई तालीम के प्रयोग में गहरी रूचि दिखायी थी। कुछ समय बाद फरीदाबाद और राजपुरा के पुनर्वास कार्यों में सर्विस सिविल इंटरनेशनल (एससीआई) की सहभागिता ने पचास के दशक की शुरुआत में उसके कुछ कार्यकर्ताओं को सेवाग्राम में कुछ समय बिताने का मौका दिया। इनमें मैक्स पार्कर मुख्य थे जिन्होंने कार्यशाला के एप्लाइड साइंस में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस बीच इस बात पर सहमति बनी कि विश्वविद्यालय स्तर का कोई भी शोध ऐसा होना चाहिए जो ग्रामीण तकनीक से सीधे तौर पर सरोकार रखता हो, मसलन रहट की जगह बैलगाड़ी से चलने वाला सिंचाई पम्प, आदि। आर्यनायकमजी ने तुर्की सम्मेलन में व्यावहारिक काम और वैज्ञानिक पड़ताल के बीच परस्पर आदान-प्रदान पर आधारित शोध की आवश्यकता का भी जिक्र किया था।

यह बात तकरीबन तीस साल पहले की है। ऐसा क्यों हुआ कि अगले दस साल में सेवाग्राम से जुड़े करीबी लोगों को भी लगने लगा कि अब नई तालीम का सफर खत्म होने के नजदीक पहुंच गया है? आखिर उन्हें ऐसा क्यों महसूस हुआ कि 1961 के बाद "गतिरोध" का दौर शुरू हो गया था जबकि उम्मीद तो "अहिंसक क्रांति" के एक नए दौर के सूत्रपात की थी? कोठारी आयोग ने 1966 में नई तालीम के रचनात्मक विचारों की खूब तारीफ की जोर देकर कहा था कि देश की शिक्षा व्यवस्था में इसके नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाना चाहिए - लेकिन ऐसा भी कुछ नहीं हुआ। जल्दी ही आयोग की रिपोर्ट में कार्यानुभव के बारे में की गई सिफारिश का भी उसी तरह मजाक उड़ाया जाने लगा जिस तरह पहले बेसिक कौशल-शिक्षा का हुआ था।

1967 में अप्रत्याशित रूप से आर्यनायकमजी का निधन हो गया। उन्होंने श्रीलंका की अपनी जन्मस्थली पर ही शांतिपूर्वक आखिरी सांसें लीं। उनके बाद आशा देवी भी लंबे समय तक जीवित नहीं रह सकीं। अपने अंतिम दिनों में उन्होंने आग्रह किया था कि तीस साल की समर्पित सेवा को स्थायी करने के लिए अहिंसक शिक्षा और शोध का एक पांच सूत्री कार्यक्रम विकसित किया जाए जिसमें सेवाग्राम के शैक्षणिक केंद्र की जमीन, भवन और उपकरण के इस्तेमाल से एक नई तालीम विद्यालय खोलने की बात शामिल थी। इस योजना में एक आवासीय स्कूल होना था जिसमें सात से अठारह साल तक ग्यारह वर्ष का पाठ्यक्रम चलाया जाता। यह कार्यक्रम अनाज, कपड़ा, स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा सांस्कृतिक व मनोरंजक अवसरों में सामुदायिक आत्मनिर्भरता पर आधारित होना था ताकि सभी मामलों का प्रबंधन सभी सदस्यों की पूर्ण भागीदारी से और लोकतांत्रिक तरीके से किया जा सके। दूसरे, एक स्वतंत्र कृषि एवं पशुपालन विभाग का भी प्रस्ताव था जिसमें व्यावहारिक काम को वैज्ञानिक शोध से जोड़ा जाना था। तीसरा विभाग ग्रामीण तकनीक के लिए प्रस्तावित था जो ग्राम आधारित उद्योगों और इंजीनियरिंग के लिए होता। इस कार्यक्रम का चौथा पहलू पचास के दशक में डॉ. एल्टन केसेल द्वारा किए गए कामों पर आधारित होना था। और आखिर में आशा जी ने एक अंतरराष्ट्रीय केंद्र बनाने की इच्छा जाहिर की जहां लोगों को गांधीजी के सिद्धांत और उसे व्यवहार में उतारने का ज्ञान दिया जा सके।

यह अपील नक्कारखाने में तूती साबित हुई; कुछ भी नहीं किया गया। 1969 के बाद से सेवाग्राम का चेहरा धीरे-धीरे बदल गया है। खासकर मेडिकल कॉलेज बनने और आंशिक तौर पर वर्धा जिले के विस्तार से ऐसा हुआ है। इसके अलावा सेवाग्राम सड़क पर ही वर्धा औद्योगिक क्षेत्र भी बना दिया गया है। मेडिकल कॉलेज पूरी तरह शहरी मॉडल पर बना है। इसके हॉस्टल सामान्य किस्म के हैं। हमारे सपनों के अनुसार इन्हें सामान्य मराठी गांव की तर्ज पर नहीं बनाया गया है जिसमें गांव की बेहतरीन परंपराओं और सामग्री का सदुपयोग किया गया हो। शायद वह वक्त दूर नहीं जब एक जमाने का दुर्गम और सुदूर सेगांव वर्धा का ही मध्यवर्ग बहुल उपनगरीय इलाका बन कर रह जाएगा। 1974 में आनंदनिकेतन स्कूल बंद कर दिया गया। अब कस्तूरबा हैल्थ सोसायटी हिंदी और अंग्रेजी में परंपरागत ढंग का एक स्कूल चलाती है। उसी साल 1974 में तमिलनाडु में हुए बेसिक शिक्षा सम्मेलन में एक शुभचिंतक डॉ. मैलकम आदिशेषैया ने कहा था कि श्रम आधारित शिक्षा की सफलता के लिए दो चीजें जरूरी हैं। उनके द्वारा गिनाई गई शर्तें वहीं थीं जो विनोबाजी ने बताई थीं। पहली शर्त ये कि वास्तविक लोकतंत्र हो जहां निर्णय प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी हो। दूसरे ये कि सभी कॉलेजों और हाई स्कूलों को दो साल के लिए बंद कर दिया जाए और उनके विद्यार्थियों को खेती व मजदूरी के लिए खेतों व फैक्टरियों में भेज दिया जाए। अब इस बात की कोई संभावना नजर नहीं आती कि इनमें से एक भी शर्त निकट भविष्य में पूरी हो पाएगी।

12

स्वर्ण जयंती के अवसर पर

आज 1987 में हम कहां खड़े हैं? पिछले अध्याय में मैंने जिस "ठहराव" की बात की थी उसके बाद क्या आज हम नई तालीम की जयंती पर उसका मर्सिया पढ़ने जा रहे हैं? क्या इसकी असामयिक मौत पर शोक मनाने के अलावा कुछ भी नहीं बचा है? क्या हमारा काम अब सिर्फ गांधीजी के आश्रम की देखभाल करना ही रह गया है जहां उनकी कुटिया को केंद्र में रखते हुए उसे एक संग्रहालय और राष्ट्रीय स्मारक में तब्दील कर दिया गया है ताकि भारत में इसकी केंद्रीय भौगोलिक स्थिति का रणनीतिक लाभ लिया जा सके; जहां ऐसे लोग कॉन्फ्रेंस और अध्ययन कर सकें जो आज भी गांधीजी के न्यायपूर्ण, अहिंसक और सुखी विश्व की कल्पना से प्रेरणा लेते हैं?

ऐसे सवालों का कोई भी जवाब सुझाने से पहले हमें सेवाग्राम में नई तालीम की उपलब्धियों को दोहराने के साथ-साथ निजी तौर पर इस बात को भी दर्ज करना चाहिए कि हम कहां चूक गए। आगे जो आकलन दिया गया है उसमें सारे सही या गलत कदमों के लिए सामूहिक जिम्मेदारी में मेरी भी बराबर की जिम्मेदारी बनती है।

मैं चौथे अध्याय में ही बेसिक स्कूल के लिए "सात साल की अवधि" में निहित अस्पष्टता की ओर आपका ध्यान आकर्षित कर चुकी हूं। 1945 में सेवाग्राम स्कूल की योजना को भले ही सात से बढ़ाकर आठ साल कर दिया गया था, लेकिन इस आठ साल के समय को परंपरागत शिक्षा के प्राथमिक और मिडिल स्कूल के समतुल्य मानने में ज्यादा मुश्किल नहीं थी। इसमें गांधीजी की उस परिकल्पना को भुला दिया गया कि राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा हाई स्कूल सहित एक समग्र शैक्षणिक पाठ्यक्रम होना चाहिए। शायद तालीमी संघ भी खुद अपनी ही इस सिफारिश को भुला चुका था कि समग्र शैक्षणिक कार्यक्रम उम्र के सोलहवें साल तक जारी रहना चाहिए। इसका नतीजा यह हुआ कि तालीमी संघ के घोषणापत्र में भी पोस्ट-बेसिक शिक्षा को पुराने हाई स्कूल के समतुल्य मान लिया गया जबकि इसे गांधीजी की परिकल्पना के अनुसार व्यर्थ की "कॉलेज" शिक्षा का एक नया और बेहतर विकल्प बनना था। मूल नजरिए में पैदा हुई इस विकृति का दीर्घकालिक प्रभाव यह हुआ कि खास तौर से बेसिक स्कूलों में और कुछ हद तक पोस्ट-बेसिक स्कूलों में हमारी सफलता के मानक क्षीण पड़ने लगे।

मेरे विचार से इसकी एक वजह ये थी कि गांव और उसके स्कूल के बीच की प्राकृतिक कड़ियां कमजोर पड़ गई थीं। शुरुआती सालों में सेगांव में इस बात से ताकत मिलती थी कि स्कूल गांव के सामाजिक वातावरण के बीच स्थित था। बाद में बड़ी कक्षाओं को तालीमी संघ के परिसर में स्थानांतरित कर दिया गया और उसे आनंदनिकेतन आवासीय स्कूल का रूप दे दिया गया तो यह भाव काफी हद तक लुप्त सा हो गया। इसमें कोई शक नहीं कि उस वक्त के हिसाब से इसके अलावा और कोई चारा नहीं था मगर अंतत: यह एक गलत कदम ही था। अब स्कूल ऐसा मॉडल नहीं रह गया था जिससे गांव वाले प्रेरणा लें और आगे बढ़ें। इस पुस्तक के शुरुआती अध्यायों में मैंने बताया था कि गांधीजी बच्चों के पारिवारिक जीवन को कितना महत्व देते थे। यदि

कुछ बच्चे ऐसे रहे हों जिन्हें मजबूरन घर से दूर रहना पड़ रहा है तो क्या समुदाय उनके रहने की व्यवस्था नहीं कर सकता था? मैं कोई फैसला नहीं सुना रही हूं; मुझे इसका कोई अधिकार नहीं है। यह महज एक सवाल है।

यदि पोस्ट-बेसिक स्कूल को 16 साल के आत्मनिर्भर बच्चों की शिक्षा के लिए पूरे मनोयोग से विकसित और नियोजित किया जाता तो शायद यह और बेहतर तैयार होता। मनु कहते हैं, "जब लड़का सोलह साल की अवस्था में पहुंच जाता है तो उसके साथ दोस्त जैसा व्यवहार ही करना चाहिए।" दोस्त यानी एक जिम्मेदार वयस्क। इस पर टिप्पणी करते हुए विनोबाजी ने लिखा है, "हमें लड़कों को सोलह साल का होने तक उद्यमी और स्वावलंबी बना देना चाहिए। यदि हम वाकई अपने लड़के के मित्र हैं तो इसके बाद उन्हें यह सलाह देनी चाहिए कि वे कैसे अपने दम पर अपनी पढ़ाई जारी रख सकते हैं। हम यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि सोलह साल तक उन्हें अच्छी शिक्षा मिले; इसके बाद न तो समाज, न ही माता-पिता और न ही सरकार को कोई आर्थिक सहयोग देना चाहिए।" इसे गांधीजी के विचारों का जायज और स्वाभाविक विस्तार कहा जा सकता है लेकिन हम इस विचार का अनुसरण नहीं कर पाए। जैसा कि हमने पांचवें अध्याय में बताया है, इसकी वजह यह रही कि हम अध्यापक खुद भी किसी उत्पादक कार्य के माध्यम से स्वावलंबी बनना नहीं सीख पाए और इसके प्रति गंभीर नहीं रहे। और यह एक बुनियादी उसूल है। आखिर हम बच्चों से एसी चीज करने को कैसे कह सकते हैं जिसे हम खुद स्वीकार नहीं कर पाए? हमारे शिक्षण कौशल की इन कमजोरियों की ओर 1941 और 1957 में भी संकेत किया गया था मगर इस दिशा में कुछ भी नहीं किया गया। यह कोई असंभव लक्ष्य नहीं है। बल्कि इसे हम जैसे वे लोग भी साध सकते हैं जिन्होंने पुराने ढंग की शिक्षा ली है। मैं साठ के दशक के शुरुआती वर्षों में इस लक्ष्य के काफी करीब थी जब नीलगिरी की पहाड़ियों में गुरुकुल चलाते हुए मैंने ओर आठ विद्यार्थियों ने मिल कर चार-पांच एकड़ बिल्कुल ढलुआ जमीन पर खेती की थी और अपने लिए पर्याप्त अनाज पैदा कर लिया था। हालांकि उस जलवायु में अपने कपड़ों के लिए पर्याप्त कपास उगाना संभव नहीं था।

यहां पर मेरे मन में एक और सवाल कौंध रहा है। ऊपर जिस गुरुकुल की बात की गई है वह काफी छोटे स्तर की चीज थी। सेवाग्राम में जब पहली बार पोस्ट-बेसिक समुदाय का गठन किया गया तो वह पंद्रह से अठारह लड़कों का एक समूह ही था। उन दिनों यह समूह अपने श्रम से ही अपनी सारी जरूरतें पूरी कर लेता था और रोजाना के कामों में बहुत ज्यादा वक्त और ऊर्जा भी खर्च नहीं होती थी। कुछ समय बाद हमने एक सामूहिक किचन के इर्द-गिर्द पूरे तालीमी संघ को इकट्ठा कर लिया जिसमें पूरे साल लगभग 200 या इससे भी ज्र्यादा लोगों के लिए खाना बनता था। क्या ऐसा करना सही था? यदि हम वास्तव में ग्रामीण स्कूल को अपना आदर्श मानते हैं जैसा कि हमने उत्तर बुनियादी भवन के संदर्भ में कहा था, तो क्या बेहतर, आरामदेह और जमीनी शिक्षा के लिए हरेक घर में परिवार के लिए एक-एक किचन रखना ज्यादा कारगर नहीं होता? ज्यादा संख्या रह रह कर परेशानी बन जामी है, लोग अपने काम को खटने जैसा मानने लगते हैं। इसके अलावा, सबसे ज्यादा अनुभवी समूह के रूप में पोस्ट-बेसिक विद्यार्थियों को जिम्मेदारियां निभाने में सबसे ज्यादा वक्त और ऊर्जा देनी पड़ती जो उनके प्रति अन्याय होता। कभी-कभार मिल-बैठ कर भोजन करना मनोरंजक हो सकता है और साथ ही शैक्षणिक भी, लेकिन रोजाना अस्वाभाविक रूप से इतने बड़े परिवार का बोझ सहना न तो मनोरंजक ही था और न ही शिक्षाप्रद। जिस तरह उत्पादक उद्यम के माध्यम से अपना निर्वाह करने वाली कक्षा के सही आकार पर उचित ध्यान दिया जाता था उसी तरह एक स्वावलंबी और स्वप्रशासित शैक्षणिक समुदाय की दैनिक जीवन

परिस्थितियों में भी आकार के बारे में गंभीरता से सोचा जाना चाहिए था। हमने इस मसले पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया।

इससे पहले कि मैं सेवाग्राम में नई तालीम समुदाय के संभावित, व्यावहारिक और उद्देश्यपूर्ण भविष्य के अपने सपने को साझा करूं, एक आखिरी टिप्पणी करना चाहूंगी। मुझे नहीं लगता कि एक समूह के रूप में हम ग्रामीण जीवन के कुछ पहलुओं के प्रति उतने चौकन्ने थे जितना हमें होना चाहिए था। इन पहलुओं की तरफ हाल के वर्षों में ही हमारा ध्यान गया है। हमने देश की आपात स्थितियों का सामना करने के लिए खाद्यान्न उत्पादन और प्रसंस्करण पर तो काफी जोर दिया लेकिन मिट्टी को उपजाऊ बनाए रखने के लिए बुनियादी बातों पर उतना ध्यान नहीं दिया। जहां तक मुझे याद है, हमारे बीच वनों, घास के मैदानों और खेती के आपसी संबंधों पर शायद ही कभी कोई बात की गई हो। जिन ग्रामदान गांवों की योजना में कभी भी उनकी प्राकृमिक संपदा और पेड़ों-पौधों के संरक्षण की बात नहीं कही गई या कभी उनके पारिस्थितिकीय संतुलन को लेकर किसी तरह की चिंता जाहिर नहीं की गई। अहिंसा के सिद्धांत को इंसान और धरती पर रह रहे अन्य प्राणियों के आपसी संबंधों के संदर्भ में शायद ही कभी व्यक्त किया गया जबकि उनके साथ हमारा अस्तित्व बहुत गहरे तौर पर जुड़ा हुआ है। गांधीजी इन चीजों के प्रति खुद काफी संवेदनशील थे। मैं इस बात को अपनी करीबी मित्रता के जरिए महसूस करती हूं कि आर्यनायकमजी के लिए "जीवन का सम्मान" कितना महत्व रखता था। लेकिन आमतौर पर श्रम और शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाते वक्त इन चीजों को उतनी तवज्जो नहीं दी गई।

अब मैं सेवाग्राम के अपने सपने पर आती हूं। यह सपना उन कमियों और कमजोरियों से जुड़ा हुआ है जो पिछले पचास साल के कामों में हमारे सामने आईं और जिनका मैंने जिक्र किया है। सपने का ताल्लुक इस बात से है कि "अगले दस, बीस या पचास साल में हम इन कमजोरियों से कैसे पार पा पाते हैं। मेरे सपने का ताल्लुक इस बात से है कि चालीस साल पहले गांधीजी के निधन के बाद नई तालीम कार्यकर्ताओं ने जो संकल्प लिया था उसे साकार करने के लिए सेवाग्राम के लोग क्या कर सकते हैं। उस वक्त हमने संकल्प लिया था कि अपना शेष जीवन हम "शिक्षा में सत्य और अहिंसा के मूल्यों का संचार करने के लिए समर्पित कर देंगे और बच्चों-बड़ों को एक ऐसे समाज के लिए तैयार करेंगे जहां प्रतिस्पर्धा की जगह सहकारिता ले सके, जहां शोषण के खिलाफ न्याय मिले और जहां आजादी हमारी भौतिक और नैतिक प्रगति के अनुरूप हो।"

सेवाग्राम में हमारे पास जमीन और पेड़ों की समृद्ध संपदा है। वहां हमारे पास कई भवन और उपकरण हैं। इन सबसे बढ़ कर, हमारे पास उस शख्स की अमिट स्मृतियां हैं जिसने 1936 में इस गांव में प्रवेश कर एक ऐसा प्रकाश फैलाया जो समूचे देश और दुनिया को प्रकाशमान कर सकता है। सेवाग्राम में गांधीजी के आश्रम को हमारे पश्चिमी मित्र "सोद्देश्य समुदाय" कहते हैं क्योंकि इसके सदस्य एक ही उद्देश्य से बंधे हुए थे; वे सभी एक ही उद्देश्य और जीवन के एक ही तरीके के प्रति समर्पित थे। उनके जीने का ढंग गांधीजी के "ग्यारह संकल्पों" से अनुप्राणित था। उनका लक्ष्य था निजी, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में सत्य और अहिंसा पर आधारित एक सच्ची आजादी प्राप्त करना।

मेरा प्रस्ताव है कि नई तालीम की जयंती मनाने के लिए सेवाग्राम में एक नई अंतरराष्ट्रीय बिरादरी को प्रोत्साहन दिया जाए, एक नई तालीम समुदाय को आगे बढ़ाया जाए। मेरा प्रस्ताव है कि इस समुदाय का साझा उद्देश्य और स्वीकृत लक्ष्य तीन स्तरीय होगा :

1. यह समुदाय अपनी मेहनत के बल पर जमीन से अपनी आजीविका पैदा करे और इस काम में सभी बच्चे और वयस्क भागीदार हों। इस तरीके से यह गांधीजी की इस कसौटी पर भी खरा उतर सकेगा कि स्वावलंबन ही नई तालीम का आधार है।

2. यह समुदाय अपने जीवन को और आंतरिक मामलों व बाहरी दुनिया के साथ रिश्तों को अहिंसा के सिद्धांत के आधार पर संचालित करे ताकि गांधी जी के इस कथन को समझ सके कि संगठन ही अहिंसा की कुंजी है।

3. वह अपने दैनिक जीवन और श्रम में जमीन और जीवन के ताने-बाने के प्रति सम्मान प्रकट करे जोकि अहिसंक जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। अपने संगठन और हितों में विभिन्न स्थानीय और राष्ट्रीय संस्कृतियों व परंपराओं के प्रति बराबर सम्मान प्रकट करना जो सदियों के ज्ञान और अनुभव का आईना हैं (सम्मान का अर्थ अंधानुकरण नहीं है। अतीत का सम्मान करना उसके प्रति बंध जाना नहीं है, बल्कि हमें मिली परंपराओं के पीछे निहित ज्ञान और अनुभव को समझना है)।

मेरा मानना है कि यदि हम इस त्रिसूत्री कार्यक्रम को गंभीरता से लागू करें तो हम निश्चित तौर पर चौतरफा शिक्षा का आदर्श साकार कर पाएंगे। इससे शारीरिक और मानसिक स्तर पर सभी मनुष्यों का पोषण होगा और व्यक्तित्व निर्माण के साथ यह प्रत्येक मनुष्य की अधिकतम संभावनाओं को सामने लाने में भी सक्षम होगा।

परंतु इस नए सपने को जमीन पर उतारने के लिए हमें ऐसे नए युवा चाहिए होंगे जो इस नजरिए से प्रेरित हों और इस काम के लिए जरूरी मेहनत के लिए तैयार हों। उन्हें वास्तविक कठिनाइयों से दो-चार होने के लिए तैयार रहना होगा। सूखा पड़े या तूफान आए, सब कुछ तबाह हो जाए, लेकिन उन्हें अपने पैरों पर खड़े रहना होगा। हमें बुजुर्गों की भी जरूरत पड़ेगी, हमें उस ज्ञान और अनुभव की जरूरत होगी जो पिछले पचास साल में उपजा है। हमें नए और पुराने हर किस्म के उत्साही लोगों की जरूरत है- और मुझे विश्वास है कि वे हमारे बीच हैं और उन्हें खोजा जा सकता है।

कड़ी मेहनत और ईश्वर के आशीष से ऐसा समुदाय विकसित हो सकता है जिसकी कल्पना आशा देवी ने बीस साल पहले की थी। हम गांधीजी के उस सपने के भी करीब पहुंच सकते हैं जो उन्होंने 1904 में फीनिक्स आश्रम के लिए देखा था जिसमें तीन एकड़ के खेतों वाला एक सहकारी गांव होगा और हर परिवार गांव के समग्र जीवन में अपना योगदान देता हो - ग्रामदान के लिए एक आदर्श मॉडल!

हम बुजुर्ग इस सपने को साकार होते नहीं देख पाएंगे। हम यह सपना अपनी अगली पीढ़ियों को सौंप रहे हैं। अगर यह सपना सच्चा है, सार्थक है तो एक दिन साकार होकर रहेगा।